TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182057

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6 | S53Kas Accession No. GH.2216

Author કાસ્ત્રી, મંગલદેવ |

Title રશ્મિ-માલા અર્થાત્ જીવન-સંદેશ- ગોપાળા :

This book should be returned on or before the date last marked below.

रश्मि-माला

अथवा

जीवन-सन्देश-गीताञ्जलि

कुम्भ पर्व (संवत् २०१०) के अवसर पर
भारतीय संस्कृति सम्मेलन द्वारा प्रस्तुत

लेखक
डा० मङ्गलदेव शास्त्री
एम० ए०, डी० फिल० (ऑक्सन)
पूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथम संस्करण १०००

मूल्य ३।।।) मात्र

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

विषय-सूची

पृष्ठ

ग्रन्थ-समर्पण ७

मातृ-भूमि का अभिनन्दन (संस्कृत में, वैदिकपद्धति से) ९

ऊपर के अभिनन्दन का हिन्दी में अनुवाद ११

भूमिका १३

रश्मिमाला

मङ्गलाचरण ५

प्रथम रश्मि—जीवनसंगीतक

१ आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः (= आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है) ९

२ जीवनस्य रहस्यम् (= जीवन का रहस्य) ११

३ संयतस्व जीवनाय (= जीवन के लिए बराबर यत्न करो) १३

४ जयन्ति के जना भुवि? (= संसार में जय किनकी होती है?) १४

५ गन्तव्यं शिखरं महत् (= गन्तव्य महान् शिखर) १५

६ इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् (= मैं ही इन्द्र तथा इन्द्रकर्मा हूं) १७

७ अन्तर्यामिन्! ममैवात्मन्! (= मेरे ही अन्तर्यामिन् आत्मन्!) १८

८ सत्त्ववन्तो महान्तः (= उदात्त-चरित्र महान् पुरुष) १९

द्वितीय रश्मि—दुःखमीमांसा

९ दुःखमीमांसा (= दुःख के स्वरूप पर विचार) २३

तृतीय रश्मि

व्रत-ग्रहण अथवा चारित्र्य-संपत्ति

१० व्रतमात्मविशुद्धये (= व्रत से आत्म-विशुद्धि) ३३

११ ब्रह्मचर्यम् (= ब्रह्मचर्य) ३५

१२ इन्द्रियाश्वान् वशीकृत्य (= इन्द्रिय-संयम) ३८

१३ सुखस्य कारणं स्वान्तम् (= मन ही सुख का कारण है) ३९
१४ अविचारकृतं कर्म (= बिना विचार के किया हुआ कर्म) ४०

चतुर्थ रश्मि—कर्मदर्शन

१५ कर्ममार्गस्य श्रेष्ठत्वम् (= कर्ममार्ग की श्रेष्ठता) ४७
१६ अदीनाः स्याम (= हम अदीन रहें) ४७
१७ प्रभौ कर्मफलन्यासः (= कर्म-फल को ईश्वर पर छोड़ना) ५०
१८ नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद्विश्वासमाश्रितः (= भगवान् में विश्वास) ५१
१९ प्राप्तकालं विधीयताम् (= प्राप्तकाल कर्तव्य) ५३
२० धर्मराज्यस्थितिः स्वर्ग्या (= स्वर्गीय धर्मराज्य) ५४
२१ पितापुत्रादिसंबन्धे कर्तव्य-बुद्धिः (= पिता-पुत्रादि के संबन्ध में कर्तव्य-बुद्धि) ५६
२२ बुद्धिभावनयोर्द्वन्द्वम् (= बुद्धि और भावना का संघर्ष) ५७

पञ्चम रश्मि

भावसंशुद्धि अथवा आत्म-परीक्षण

२३ क्षणमन्तर्मुखं कृत्वा (= आत्म-परीक्षण) ६१
२४ उपेक्ष्यात्महितं तथ्यम् (= आत्म-हित की उपेक्षा) ६२
२५ दरिद्राति स्वकर्तव्ये (= कर्तव्य की उपेक्षा) ६४
२६ वस्तुतस्तद्धनं मन्ये (= वास्तविक धन) ६५
२७ भाव-माहात्म्यम् (= भावों की महिमा) ६६
२८ भाव-संशुद्धिः (= भाव-संशुद्धि) ६७
२९ यात्रेति जीवनं प्राहुः (= जीवन-यात्रा) ६९
३० अभिमानेन मूढोऽयम् (= मिथ्या अभिमान) ७०
३१ नूनं ते करुणापात्रम् (= मानमदोद्धत मनुष्य) ७१
३२ विनय आत्म-संमानश्च (= आत्म-संमान और विनय) ७२
३३ मानसी पुष्पवाटिका (= मन की फुलवाड़ी) ७३

षष्ठ रश्मि—मनःप्रसाद

३४ येयं प्रसादनी शक्तिः (= प्रसादनी शक्ति) ७७
३५ येयं शान्तिकला रम्या (= दिव्य शान्ति) ७८
३६ सदानन्दो वसाम्यहम् (= प्रकृति-माता की गोद में) ७९

३७ अरण्येषु मृगाः केन ? (= हृदयोल्लास) ८०
३८ जीवन्नेव नरो नूनम् (= जीवन में स्वर्गीय सुख) ८१
३९ दृष्ट्वा कुसुममारामे (= लोकसेवा) ८३
४० प्रभोः प्रसादनायैव (= ईश्वर की प्रसन्नता) ८३
४१ व्यग्रता निष्प्रयोजना (= व्यग्रता की व्यर्थता) ८४
४२ नूनं तन्मूल्यमल्पीयः (= अपना मूल्य) ८५
४३ यदेतदान्तरं ज्योतिः (= आभ्यन्तर ज्योति) ८६
४४ ध्वान्तं धावति दूरतः (= मनःप्रसाद) ८७
४५ चारित्र्यस्य समुन्नतिः (= चरित्र का विकास) ८८
४६ चिन्ता सा निष्फला नूनम् (= चिन्ता और कर्तव्य-पालन) ८९
४७ एते हि शत्रवः क्रूराः (= आभ्यन्तर शत्रु) ९०
४८ राजते रजनीमुखम् (= नाम-संकीर्तन-महिमा) ९१
४९ परात्मना रक्षितो वर्ते (= परमात्मा का वरद हस्त) ९२
५० जीवने नाट्यसादृश्यम् (= जीवन-नाट्य) ९३
५१ उत्तरोत्तरमुन्नतिः (= उत्तरोत्तर उन्नति) ९४
५२ त्रिलोक्या अपि मूल्येन (= ईश्वर-प्रार्थना) ९५

सप्तम रश्मि--मेरी अक्षय निधि

५३ हृद्यैः कलकलालापैर्लापिनी वारिवाहिणी (= प्राकृतिक सौन्दर्य) १०१
५४ यादसां पतिः (= समुद्र) १०२
५५ भास्वदम्बरमण्डलम् (= अम्बर-मण्डल) १०३
५६ वाङ्मयम् (= वाङ्मय) १०४
५७ योगः (= योगसाधन) १०४
५८ सौम्या मनःस्थितिः (= सौम्य मनःस्थिति) १०५
५९ अनन्ता प्रभा (= अनन्त प्रभा) १०६

अष्टम रश्मि—तत्त्व-मीमांसा

६० तत्त्वमीमांसा (= मूलतत्त्व का विचार) १०९
६१ बहिरन्तश्च सर्वत्र (= सर्वव्यापक तत्त्व) ११२
६२ परात्मतत्त्व एकस्मिन् (= परमात्मतत्त्व) ११३
६३ मेघै रविरिवांशुमान् (= मूलतत्त्व का साक्षात्कार) ११४

६४ गुहायां गूढमावृतम् (= दुर्दर्श मूलतत्त्व) ११५
६५ भक्तेस्त्रैविध्यम् (= भगवद्भक्ति के तीन भेद) ११७
६६ नूनं सा प्रथमा बुद्धिः (= जगद्धात्री महाशक्ति) ११९
६७ यासौ प्रभामयी देवी (= प्रभामयी देवी) १२०
६८ दैव्या नावोह्यमानोऽहम् (= दैवी नौका) १२१
६९ इदं श्रेयो न वा श्रेयः? (= परमात्मा की प्रेरणा) १२३

नवम रश्मि—अमृत की कला अथवा **जीवन के उत्तरार्ध में**

७० आयुषः पश्चिमे भागे (= शान्ति का उपाय) १२७
७१ तद्विष्णोः परमं पदम् (= जीवन की कृतार्थता) १२८
७२ दुर्लभं मानुषं जन्म (= मनुष्य-जन्म दुर्लभ है) १२९
७३ सौभाग्यं किमतः परम्? (= भगवान् का धन्यवाद) १३०
७४ योगेनान्ते तनुत्यजः (= जीवन की परीक्षा) १३१
७५ आत्मनः स्वं महत्तेजः (= जीवन का लक्ष्य) १३३
७६ बुद्धेर्नद्या विलासेभ्यः (= आत्मा की गुहा) १३५
७७ स्वास्थ्यं तन्महदात्मनः (= आत्मा की स्वस्थता) १३७
७८ विश्रान्त्यै विहगो यथा (= दैनिक विश्रान्ति) १३७
७९ कामकामी न शान्तिभाक् (= कामकामी को शान्ति कहाँ?) १३८
८० तदेव वस्तुतो द्वारम् (= ब्रह्म प्राप्ति का द्वार) १३९
८१ दृष्टी द्वे जगतो मते (= व्यष्टि और समष्टि) १४०
८२ समष्टिर्ब्रह्म मन्यताम् (= ब्रह्म में समष्टि-दृष्टि) १४१
८३ तद्वै ब्रह्मपदं प्रोक्तम् (= ब्रह्मनिर्वाण) १४२
८४ यासौ ब्राह्मी स्थितिर्मता (= ब्राह्मी स्थिति) १४४
८५ प्रदीपा इव भासन्ते (= किसी का अपमान न करो) १४५
८६ अमृतस्य कला दिव्या (= अमृत की दिव्य कला) १४६
८७ मत्वा धीरो न शोचति (= शोकातीत अवस्था) १४९
८८ हृदयाधिष्ठितं तत्त्वम् (= परतत्त्व की उपासना) १५०
८९ भावनाकुसुमैरीडे (= भावना-यज्ञ) १५१
९० स एष मानसो यज्ञः (= मानस यज्ञ) १५२
९१ ओंकार-माहात्म्यम् (= ओंकार की महिमा) १५४
९२ भद्राः सन्तु प्रशस्तयः (= उपसंहार) १५८

ग्रन्थ-समर्पण

जीवन के उत्थान और नव्य-भारत
के निर्माण में तत्पर राष्ट्र-
प्रेमियों की सेवा में ।

मातृभूमेरभिनन्दनम्

सा नो माता भारती भूर्विभासताम्

येयं देवी मधुना तर्पयन्ती
तिस्रो भूमीरुद्धृता द्योरुपस्थात्।
कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
मेधां श्रेष्ठां सा सदास्मासु दध्यात् ॥१॥

सर्वे वेदा उपनिषदश्च सर्वा
धर्मग्रन्थाश्चापरे निधयो यस्याः।
मृत्योर्मर्त्यानमृतं ये दिशन्ति वै
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥२॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्ते
उत्तिष्टन्ते ते भूय उत्तिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे धर्म एजते
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥३॥

यां रक्षन्त्यनिशं प्रतिबुध्यमाना
देवा ऋषयो मुनयो ह्यप्रमादम्।
राजर्षयोऽपि ह्यनघाः साधुवर्याः
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥४॥

महान्तोऽस्यां महिमानो निविष्टा
देवा गातुं यां क्षमन्ते न सद्यः।
सा नो वन्द्या भ्राजसा भ्राजमाना
माता भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् ॥५॥

अभिनन्दनमिदं पुण्यं
दिव्यभावैः समर्हितम्।
मातृभूमेः पठन्नित्य-
मात्मकल्याणमश्नुते ॥ ६ ॥

भारतीय संस्कृति की दृष्टि से मातृभूमि का अभिनन्दन

विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

१--द्युलोक से अवतीर्ण, तीनो लोकों को दिव्य माधुर्य से आपूर्ण करनेवाली, अभिलषित कामनाओं को देनेवाली तथा दुःख-दारिद्र्य (अलक्ष्मी) को हटानेवाली, देवीस्वरूपिणी भारत-माता सद्विचारों की साधना में हमारी सहायक हो ।

२--मनुष्यों को मृत्यु से हटाकर अमृतत्व की प्राप्ति का उपदेश देनेवाले समस्त वेद, उपनिषद् तथा अन्य (बौद्ध, जैन आदि) धर्म-ग्रन्थ जिसके निधि-स्वरूप हैं, वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

३--जिसका अपकर्ष संसार में धर्माचरण के अपकर्ष का कारण होता है, जिसके उत्कर्ष में धर्माचरण का उत्कर्ष निहित है, जिससे धर्म को प्रेरणा प्राप्त होती है, वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

४--देवगण, ऋषि, मुनि, राजर्षि और पवित्रात्मा सन्त-महात्मागण सावधानता तथा तत्परता से जिसके लोक-कल्याणकारी स्वरूप की निरन्तर रक्षा करते आये हैं, वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

५--जिसकी महिमा महान् है, देवगण भी जिसके स्वरूप का गान नहीं कर पाते, समुज्ज्वल तेज से देदीप्यमान वह सर्व-लोक-वन्दनीय हमारी मातृभूमि अपने विरोधी शत्रुओं को शमन (निराकरण) करनेवाली हो।

माहात्म्य

६--मातृभूमि भारत के दिव्य भावों से युक्त इस पवित्र अभिनन्दन का नित्य पाठ करने वाला मनुष्य आत्मकल्याण को प्राप्त होगा ।

प्रकाशकीय

रश्मिमाला अथवा जीवन सन्देश गीताञ्जलि पुस्तक को इस कुम्भ पर्व के पावन अवसर पर प्रकाशित करते हुए हमें स्वभावतः प्रसन्नता हो रही है। आज हमारे समाज में निराशा, अशान्ति और संघर्ष के बादल छाए हुए है, अनैतिकता तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला है, मानव समाज भौतिक सभ्यता की दौड़ में अपनी आध्यात्मिक पूंजी फेंककर अर्थ का दास बन गया है, विकृत रूढ़ियों के साथ-साथ साम्प्रदायिकता तथा संकीर्णता अपना विकराल मुह फैलाकर खड़ी हो गयी है। चिरपरतंत्रता के कारण पश्चिमी संस्कृति ने भारत के निर्मल आत्मा को निश्चेतन कर दिया है, साक्षरता का उत्तरोत्तर प्रसार तथा नागरिकता के अधिकारों के प्रति जागर्ति अवश्य पायी जाती है, किन्तु आत्म विश्वास और नैतिकता का स्तर नीचे गिर गया है। क्या शिक्षित क्या अशिक्षित सब में निराशा और हीनता की भावना है, ऐसी विकट परिस्थिति में भारतीय संस्कृति के सूत्रों का अवलंब लिए बिना हमारे देश और जाति का पुनरुत्थान संभव नहीं है। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करके भी हम गिर सकते हैं, यदि हमारा सांस्कृतिक उत्थान नहीं होता।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर भारतीय संस्कृति सम्मेलन ने भारतीय संस्कृति के मूल सूत्रों का यह सुन्दर स्वरूप इस पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कराया है, इसके प्रस्तुत कर्त्ता स्वनामधन्य डा० मङ्गलदेव शास्त्री संस्कृत और हिन्दी जगत् के विश्रुत विद्वान् और लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल सूत्रों पर आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार एक नयी दिशा का संकेत किया है और अपने सुललित मनोहर छन्दों में उनका ग्रन्थन कर सर्व साधारण के उपयोग के लिए उसका हिन्दी अनुवाद भी कर दिया है। ऐसी उत्कृष्ट रचना के सम्बन्ध में पाठक स्वयं प्रमाण हैं। हमारा ध्यान है, कि संस्कृत और हिन्दी में यह अपने ढंग की अद्वितीय पुस्तक है और हिन्दी साहित्य सम्मेलन को उसके प्रकाशन का अवसर प्राप्त करने का गर्व है।

मंत्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

भूमिका

रश्मिमाला का प्रारम्भ

इस **'रश्मि-माला'** के प्रारम्भ की और अपने वर्त्तमान रूप में आने की कथा कुछ विचित्र-सी, अतएव मनोरञ्जक भी है। सब से पहली बात यह है कि इसकी सब रचनायें केवल आत्म-संतोष के लिए लिखी गयी थीं; लिखते समय कभी नहीं सोचा था कि ये कभी ग्रन्थ-रूप में प्रकाशित होंगी।

मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के विचार उठते रहते हैं; उनमें उसकी समस्यायें और उनका समाधान भी कभी-कभी होता है। पर उनमें स्थायित्व नहीं होता। जीवन के उत्तरार्ध में स्वभावतः यह प्रवृत्ति प्रबल होने लगती है।

उक्त प्रवृत्ति से ही '**रश्मि-माला**' का प्रारम्भ हुआ था। अधिकतर प्रातःकाल या सायंकाल के भ्रमण में, रेल की यात्राओं में, कभी-कभी ब्राह्म-मुहूर्त्त में आँख के खुलते ही, या एकान्त-ध्यान में, अकस्मात्, जीवन की समस्यायें और उनके समाधान भी, प्रकाश की झलक के समान, मन में आते प्रतीत हुए। कुछ, दो-चार ही, प्रेरणायें स्वप्न में भी प्राप्त हुई। सोचा, इनको अपने लिए ही स्थायित्व देने के उद्देश्य से संस्कृत-पद्य-बद्ध क्यों न कर लिया जाय।

इसी आधार पर, विभिन्न रचनाओं की तिथि और स्थान अथवा प्रसङ्ग के निर्देश के साथ-साथ, पद्यों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। पिछले अगस्त मास में आसाम की यात्रा करनी पड़ी। उसमें इस संग्रह की अन्तिम रचना 'ओंकार-माहात्म्य' लिखी गयी। वहाँ से लौटने पर अकस्मात् एक दिन देखा कि पद्य-संग्रह पर्याप्त बड़ा हो गया है।

इधर 'ओंकार-माहात्म्य' के 'कल्याण' और 'वेद-वाणी' में प्रकाशित होने पर, अनेक मित्रों ने उसे बहुत हृदय-ग्राही पाया। मुख्यतः इसीसे यह प्रेरणा प्राप्त हुई कि पूरे संग्रह को ही ग्रन्थ-रूप में प्रकाशित कर दिया जाय।

प्रारम्भ में संग्रह को केवल मूल-रूप में ही प्रकाशित करने का विचार हुआ। इसी बीच में श्रद्धेय राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी से भेंट हुई। उन्होंने

संग्रह को हिन्दी अनुवाद के साथ 'भारतीय संस्कृति-सम्मेलन' के तत्त्वावधान में प्रकाशित कराने का प्रस्ताव किया। उन्हीं के अनुरोध पर गत १५ दिनों में ही हिन्दी अनुवाद को पूरा किया गया है।

इसी पृष्ठ-भूमि में **रश्मिमाला** अपने वर्तमान रूप में पाठकों के सामने अवतीर्ण हो रही है।

विषय-निर्देश

पुस्तक के वर्त्तमान प्रकाशन में विभिन्न काल की स्फुट रचनाओं को 'रश्मि' नामक नौ अध्यायों में संगृहीत कर दिया गया है। उनके नाम और विषय इस प्रकार हैं--

नाम	विषय
प्रथम रश्मि--जीवन-संगीतक	जीवन का रहस्य, स्वरूप और आदर्श
द्वितीय रश्मि--दुःख-मीमांसा	उन्नति के लिए सोपान-रूप में दुःख पर विचार
तृतीय रश्मि--व्रत-ग्रहण, अथवा चारित्र्य-संपत्ति	चरित्र-गठन और ब्रह्मचर्य
चतुर्थ रश्मि--कर्म-दर्शन	कर्म में कर्तव्य बुद्धि
पञ्चम रश्मि--भाव-संशुद्धि अथवा आत्मपरीक्षण	मन की पवित्रता और अन्तःपरीक्षण
षष्ठ रश्मि--मनःप्रसाद	मन की प्रसन्नता और प्राकृतिक जीवन
सप्तम रश्मि--मेरी अक्षय निधि	विचार-शील मनुष्य की अक्षय निधियों का वर्णन
अष्टम रश्मि--तत्त्व-मीमांसा	सृष्टि के मूल-तत्त्व का विचार
नवम रश्मि--अमृत की कला अथवा जीवन के उत्तरार्ध में	आध्यात्मिक शान्ति और विकास

इसके अतिरिक्त, मनुष्य-जीवन के उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाओं की दृष्टि से उक्त नौ रश्मियों को, निम्न-लिखित क्रम से, तीन बड़े भागों में भी विभक्त किया गया है--

१--३ रश्मियों का **भूः-पटल** नामक प्रथम भाग--इसका संबंध मुख्यतया जीवन की प्रथमावस्था (= ब्रह्मचर्याश्रम) से है।

४--६ रश्मियों का **भुवः पटल** नामक द्वितीय भाग--इसका संबंध कर्म-प्रधान गृहस्थाश्रम से है।

७--९ रश्मियों का **स्वः पटल** नामक तृतीय भाग--इसका संबंध जीवन के उत्तरार्ध की अवस्था (= वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम) से है।

रचना का उद्देश्य

मनुष्य एक प्राणी है। प्राणी होते हुए भी, अन्य सब प्राणियों से उसकी महान् विशेषता है। उसे अपनी भौतिक आवश्यकताओं की तृप्ति से ही सन्तोष नहीं होता। उसकी मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकतायें भी है, जिनकी पूर्त्ति के प्रसंग में उसे अनेकानेक गूढ समस्याओं के समाधान की अपेक्षा होती है। जीवन क्या है? उसका वास्तविक लक्ष्य क्या है? जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उसका कर्तव्य क्या होना चाहिए? दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है? समाज, राष्ट्र आदि की समष्टियों के साथ उसकी अपनी व्यष्टि का क्या संबन्ध है? इत्यादि प्रश्न प्रायः प्रत्येक विचारशील मनुष्य के मन में कभी न कभी उठा करते हैं। ऐसी समस्याओं का ऐसी भाषा और शैली में समाधान उपस्थित करना जो बुद्धि-ग्राह्य होने के साथ-साथ हृदयस्पर्शी भी हो, जिसको शास्त्रज्ञ विद्वान् के अतिरिक्त साधारण मनुष्य भी समझ सके, रश्मि-माला की रचनाओं का प्रथम ध्येय रहा है।

उक्त दार्शनिक समस्याओं और उनके समाधान के अतिरिक्त, रश्मिमाला की विचारधारा की मूल-प्रेरणा देश और जाति की कल्याण-कामना की भावना से ही मिली है।

सैकड़ों वर्षों के दास्य के पश्चात् हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ है। स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर हमारी मुख्य समस्या राष्ट्र का सुदृढ़ और स्थायी पुनर्निर्माण है। इसके लिए हमारी सबसे पहली आवश्यकता यह है कि सहस्रों वर्षों की अपनी परम्परा रखनेवाली भारतीय संस्कृति को राष्ट्र के पुनर्निर्माण में साहाय्य-कर बनाया जाय। इस संबंध में मुख्य बातें, हमारी समझ में, ये हैं--

(१) जीवन में अनास्था और नैराश्य की छाप को आशावाद और आत्म-विश्वास की भावना में परिवर्त्तित करना।

(२) धर्म के नाम पर किये जाने वाले शुष्क कर्मकाण्ड को तथा नैतिकता

से विहीन लौकिक जीवन को चारित्र्य-निर्माण द्वारा नैतिक आधारों पर स्थापित करना।

(३) सांप्रदायिक संकीर्णता, दुराग्रह और संघर्ष के स्थान में सांप्रदायिक सामञ्जस्य और सांमनस्य को स्थापित करना।

(४) जीवन के आदर्शों में व्यष्टि-दृष्टि के स्थान में अधिकाधिक समष्टि-दृष्टि को लाना, जिससे समष्टि के साथ सामञ्जस्य में या उसके हित में ही व्यष्टि का वास्तविक हित है, यह समझा जाय।

वास्तव में इन्हीं विचारों की पृष्ठ-भूमि में, नव्य भारत के निर्माण की दृष्टि से, रश्मिमाला की रचना हुई है।

विशेषता

यों तो पाठकों को रश्मिमाला की प्रायः प्रत्येक रचना में प्रतिपादन की शैली आदि की दृष्टि से कुछ-न-कुछ नवीनता अवश्य दिखायी देगी, तो भी प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से पुस्तक की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनका संक्षेप में यहाँ निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ,

(१) 'जीवन बन्ध या कारागार के समान है। इसीलिए जीवन और संसार मिथ्या और असार हैं। उनसे छुटकारा (या मोक्ष) पाना ही हमारा परम लक्ष्य है।' इस प्रकार के निराशावाद के स्थान में 'जीवन ईश्वर का प्रसाद है। वह हमारे उत्तरोत्तर विकास और प्रगति का साधन है। उसका परम लक्ष्य आनन्त्य, निःश्रेयस या अमृतत्व है' इस प्रकार के आशावाद का प्रतिपादन (देखो प्रथम रश्मि)।

(२) 'दुःख-मीमांसा' (द्वितीय रश्मि) में दुःख के विषय में प्रचलित और परम्परागत भयावह दृष्टि के स्थान में 'दुःख हमारे विकास और उन्नति की अनिवार्य पूर्वावस्था का नाम है। वह सहेतुक और सप्रयोजन होता है। उसको हम अपनी उन्नति की सीढ़ी कह सकते हैं, और उसको प्रसन्नता से स्वीकार करके तप के रूप में भी ले सकते हैं।' इत्यादि आशावाद-मूलक दृष्टि का प्रतिपादन, जो हमारी समझ में नितरां नवीन है।

(३) 'तत्त्व-मीमांसा' (अष्टम रश्मि) में उस मूलतत्त्व का प्रतिपादन, जिसको सब संप्रदाय किसी-न-किसी रूप में मानते हैं। वह स्वयं-सिद्ध है, अतएव हमारे विचारों से असंपृक्त रहता है। अपनी परम्परा आदि के आधार पर हम उस एक

ही मूलतत्त्व को भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। अतएव उस तत्त्व के आधार पर सांप्रदायिक संघर्ष के स्थान में सांप्रदायिक सांमनस्य और सौहार्द ही बढ़ना चाहिए।

(४) 'कर्म-दर्शन' (तृतीय रश्मि) में धार्मिक कृत्यों और लौकिक कामों में वास्तविक घनिष्ठ संबंध का प्रतिपादन। धार्मिक पूजा और कर्मकाण्ड का वास्तविक महत्त्व हमारे दिनभर के जीवन की पवित्रता और नैतिकता में ही है।

(५) व्यष्टि-दृष्टि और समष्टि-दृष्टि के प्रतिपादन के साथ-साथ समष्टि के साथ सामञ्जस्य में ही व्यष्टि के वास्तविक हित का प्रतिपादन।

समष्टि के साथ व्यष्टि के सामञ्जस्य का सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी सत्यता दिखलायी जा सकती है। उदाहरणार्थ, व्यष्टि-रूप हमारे भौतिक शरीरों का स्वास्थ्य भौतिक-समष्टि-रूप प्रकृति के नियमों की अनुकूलता (अर्थात् सामञ्जस्य) पर ही निर्भर है। इसी प्रकार, समष्टिरूप समाज की व्यष्टियों (= व्यक्तियों) की वास्तविक भलाई समाज की भलाई में ही रहती है। इसी प्रकार, समस्त विश्व की सब से बड़ी समष्टि को ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। इसलिए हम सब व्यष्टियों का वास्तविक कल्याण ब्रह्म के साथ हमारे सामंजस्य में ही है। इसी सामंजस्य को शास्त्रों में ब्रह्म-सायुज्य, ब्राह्मी स्थिति आदि शब्दों से कहा गया है।

व्यष्टि और समष्टि का यह सिद्धान्त ऐसा व्यापक है कि प्रत्येक विचारशील मनुष्य, चाहे वह किसी भी संप्रदाय या विचारधारा का क्यों न हो, इसे अवश्य स्वीकार करेगा। जीवन की अनेकानेक गूढ़ समस्याओं का समाधान इस सिद्धान्त में हमें मिल सकता है। (इस विचार के लिए देखिए––नवम रश्मि में ८१, ८२ और ८३ संख्या की रचनायें)।

इनके अतिरिक्त 'मेरी अक्षय निधि' (सप्तम रश्मि) 'मन की फुलवाड़ी' (सं० ३३), 'जीवन में स्वर्गीय सुख' (सं० ३८), 'भगवद्भक्तिके तीन भेद' (सं० ६५), 'अमृत की दिव्य कला' (सं० ८६), तथा 'ओंकार की महिमा' (सं० ९१) आदि रचनाओं में भी अपनी-अपनी विशेषता पाठकों को स्पष्ट दीख पड़ेगी।

प्रक्रिया और शैली

पुस्तक की रचना-शैली के विषय में हमें विशेष कहना नहीं है। सबसे पहली बात यही है कि उसमें प्रारम्भ से अन्त तक स्वाभाविकता है। भगवद्गीता, मनु-

स्मृति जैसे प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों की सरल, सुबोध, हृदयाकर्षक शैली के आदर्श पर ही रश्मिमाला के पद्यों की रचना हुई है। उसमें इतना प्रसाद है कि सुनने के साथ ही अर्थावबोध होता जाता है और विचार की प्रगति में किंचिन्मात्र भी बाधा नहीं आती। वास्तव में, किसी भी रचना-शैली का यह पहला गुण होना चाहिए। हमारे विचार में, संस्कृत के प्रति जनता में अनुराग और आकर्षण उत्पन्न करने के लिए आधुनिक संस्कृत में इसी शैली को अधिकाधिक अपनाना होगा।

रश्मि-माला की रचनाओं की दूसरी विशेषता उनकी अपारिभाषिकता है। यथासंभव प्रयत्न किया गया है कि विभिन्न विषयों का प्रतिपादन शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के आश्रय के बिना ही किया जाय। उदाहरणार्थ, 'अमृत की दिव्य कला' (सं० ८६) में 'जीवात्मा' जैसे शब्द के अप्रयोग का, या एक ही मूलतत्त्व के लिए 'परमात्मा' (सं० ६४), 'प्रभामयी देवी' (सं० ६७), 'देवी' (सं० ६८), 'महाशक्ति' (सं० ६९), 'शान्तिकला' (सं० ३५), 'अनन्ता प्रभा' (सं० ५९), 'समष्टि' (सं० ८३) जैसे शब्दों के प्रयोग का कारण उक्त अपारिभाषिकता ही है। ऐसे प्रतिपादनों में पारिभाषिकता से उनके व्यापक और मौलिक दृष्टिकोण को हानि ही पहुंचती है। इसीलिए किसी भी विषय के मौलिक विचार में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को यथासंभव बचाना आवश्यक होता है। उपनिषदों की हृदयग्राहिणी प्रतिपादन-शैली प्रायः इसी प्रकार की है।

विभिन्न रश्मियों के मुख-पृष्ठ पर और यथासंभव प्रत्येक रचना के प्रारम्भ में उपयुक्त वैदिक उद्धरणों को देने का हमने प्रयत्न किया है। अधिकतर उद्धरण इतने उपयुक्त हैं कि उनसे यही प्रतीत होता है कि विभिन्न रचनायें वैदिक उद्धरणों को सामने रखकर उनकी व्याख्या-रूप में लिखी गयी हैं। पर वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। सब रचनायें स्वतन्त्ररूप से ही लिखी गयी थीं; वैदिक उद्धरण तो बहुत पीछे दिये गये हैं। फिर भी समस्त रश्मिमाला का दृष्टिकोण पूर्णतः वैदिक है। इसका कारण ग्रन्थकार का लगभग ५० वर्षों से प्रायेण निरन्तर वैदिक वाङ्मय का स्वाध्याय ही है। जीवन के विषय में उज्ज्वल आशावाद की, नैतिकता की और आध्यात्मिकता की जिन उदात्त भावनाओं से रश्मिमाला परिपूर्ण है उनकी प्रेरणा वैदिक स्वाध्याय से ही ग्रन्थकार को मिलती रही है। विभिन्न रचनाओं के साथ वैदिक उद्धरणों की उपयुक्तता का मौलिक कारण यही है।

उपसंहार

अन्त में रश्मिमाला की उपयोगिता के विषय में दो चार शब्द लिखकर हम इस भूमिका को समाप्त करते हैं।

ऊपर कहा है कि रश्मिमाला की सब रचनायें केवल आत्म-सन्तोष के लिए लिखी गयी थीं। इसलिए जीवन की गूढ़ समस्याओं के उपस्थित होने पर अथवा अरुचिकर परिस्थितियों में ग्रन्थकार को स्वभावतः इनसे बराबर समुज्ज्वल आशा-वाद, सान्त्वना, उत्साह, सात्त्विक जीवन और दिव्यशान्ति का प्रसाद और प्रकाश प्राप्त होता रहा है। रश्मिमाला से इस विषय में कभी निराशा नहीं हुई।

हमारा विश्वास है कि दूसरों के लिए भी रश्मिमाला ऐसी ही सिद्ध होगी।

हमारे जीवन के नैराश्य, आदर्शहीनता, लक्ष्यहीनता, सांप्रदायिक संकीर्णता और खेदजनक रिक्तता के अनुभव को हटाकर उसमें आशा, विश्वास, प्रकाश, औदार्य तथा पूर्णता की भावनाओं को उत्पन्न कर नव्यभारत के निर्माण में रश्मि-माला सहायक हो सके यही ग्रन्थकार की हार्दिक कामना है।

वैदिक-स्वाध्याय-मन्दिर
ज्योतिराश्रम, बनारस कैंट
माघ कृष्ण २, २०१०
(२१-१-१९५४)

मङ्गलदेव शास्त्री

सन्तो मधुव्रताः सान्द्रं
पीत्वा शास्त्ररसामृतम् ।
लोकोत्तरं तथाक्षय्य-
मानन्दमुपभुञ्जते ॥१॥

सत्पुरुषों का स्वभाव मधु-पान-रसिक भ्रमर के समान होता है। व शास्त्रों के रसरूपी अमृत को तन्मयता के साथ पीकर अक्षय्य लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं।

रश्मि-माला

भूः पटलं

नाम

प्रथमो भागः

●

रश्मि-माला

'भूः पटल'

नामक

प्रथम भाग

रश्मि-माला

अनन्तं शाश्वतं दिव्यं
तद्धाम सततं भजे।
यतो यात्राप्रवृत्तोऽहं
यत्र गन्तास्मि चान्ततः ॥१॥

मैं सर्वदा उस अनन्त शाश्वत दिव्य धाम को भजता हूँ, जहां से मेरी यात्रा प्रवृत्त हुई है और जहां अन्त में मुझे जाना है।

अज्ञानतिमिराविष्टं
विश्वं भासयितुं क्षमम्।
यदेतदान्तरं चक्षुर्
नुमः सारस्वतं महः ॥२॥

जो अज्ञानान्धकार से व्याप्त विश्व को भासित करने में समर्थ आभ्यन्तर चक्षु है उस सारस्वत तेज को हम नमस्कार करते हैं।

परितापेन दुःखानां
तप्तानां प्राणिनां भृशम्।
कल्याणार्थाय संनद्धा
ये तान् वयमुपास्महे ॥३॥

दुःखों के परिताप से अत्यन्त संतप्त प्राणियों के कल्याण के लिए जो संनद्ध हैं उन सन्त-महात्माओं की हम अर्चना करते हैं।

प्रथमो रश्मिः

जीवन-संगीतकम्

जीवेम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूषेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ।
(अथर्व० १९।६७।२,४,५,८)

प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः ।
(ऋग्० १०।५९।१)

●

प्रथम रश्मि

जीवन-संगीतक

हम सौ वर्ष तक जीवें। हम सौ वर्ष तक उन्नति करते रहें। हम सौ वर्ष तक पुष्ट रहें। सौ वर्षों के अनन्तर भी अनेक वर्षों तक।
(अथर्व० १९।६७।२,४,५,८)

हमारी आयु नवीन से नवीनतर और दीर्घ से दीर्घतर बढ़ती रहे।
(ऋग्० १०।५९।१)

: १ :

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है

"अस्माकं सन्त्वाशिषः
सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥" (यजु० २।१०)

अर्थात्, हम आशावादी बनें! हमारी आशायें सफल हों!

भारतीय विचार-धारा में इधर चिरकाल से 'संसार असार है', 'जीवन क्षण-भंगुर और मिथ्या है' इस प्रकार की निराशावाद की भावनाओं का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति के जीवन को शक्तिहीन, उत्साहहीन और आदर्शहीन बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता? पर भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा में आशावाद सदा से ओत-प्रोत रहा है। उसी आशावाद के स्वरूप और महिमा का वर्णन नीचे किया जाता है:—

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते।
तां समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ॥१॥

मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए तुम्हें उस पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटाकर आशावादी बनना चाहिए।

मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥२॥

मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित है।

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः[1] ॥३॥

---

१ तु० "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद १।३।२८)।

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसलिए "भगवन्! मुझको अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए" ऐसा श्रुति का वचन है।

आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥४॥

आस्तिकता (=जीवन में आदर्श-भावना), आत्मविश्वास, कारुण्य, सत्यपरायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति—संसार में इनका सद्भाव आशावादियों में ही हो सकता है।

निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥५॥

निराशावादी लोग स्वभाव से ही मन्द (उदात्त भावनाओं से विहीन), निष्ठुर (असंवेदनशील) और संशयालु होते हैं। वेद[1] में ऐसे ही लोगों को किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में निमग्न, तथा आत्मविस्मृति-रूप आत्महत्या करने वाला कहा गया है।

---

१ तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"
(यजु० ४०।३)
अर्थात्, आत्मत्व या आत्म-चेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्, जीवन में आदर्शभावना का अभाव) न केवल व्यक्तियों के लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रों के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिरा कर सर्वनाश का हेतु होती है।

: २ :

जीवनस्य रहस्यम्

जीवन का रहस्य

"लोका यत्र ज्योतिष्मन्त-
स्तत्र माममृतं कृधि ।" (ऋग्० ९।११३।९)

अर्थात्, भगवन् ! मुझे ज्योतिर्मय लोकों में अमृत पद (= शाश्वत जीवन) प्राप्त कराइये।

'जीवन निःसार और मिथ्या है', 'जीवन बन्ध या कारागार के समान है और उससे छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारा परम कर्तव्य है' ऐसी मिथ्या-भावनाओं ने हमारे जातीय जीवन को चिरकाल से नष्ट-भ्रष्ट कर रखा है। इनके कारण ही, जेल के क़ैदी के समान, हम स्वभावतः, न केवल अपने ही, किन्तु जाति, राष्ट्र या मानव के विकास और समुत्थान से भी प्रायः उदासीन रहे हैं।

परन्तु नीचे जीवन के विषय में एक नयी दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार जीवन मिथ्या होने के स्थान में परमात्मा का एक महान् प्रसाद है। इस अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड में अनन्त विकास और समुन्नति का साधन जीवन ही है। वास्तव में तो हमारा जीवन शाश्वत है। हमारा यह जीवन उसी शाश्वत अनन्त जीवन की प्राप्ति का एक अनिवार्य और अमूल्य साधन है। इसीलिए उसमें आस्था की अनिवार्य-रूप से आवश्यकता है :—

जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः ॥१॥

जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझते हैं।

जीवनस्य भयं मृत्योर्मरणान्तं च जीवितम्।
आ जन्मनः क्रमेणायुर्ह्रासो मृत्युपथानुगः[1] ॥२॥

---

१ तु० "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः" (रघुवंश ८।८७)। तथा "संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा। सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने ॥"

अर्थात्, मनुष्य के लिए मृत्यु स्वाभाविक और जीवन अस्वाभाविक है। एवं, संसार स्वप्नमात्र है। प्राण और धन चलायमान हैं। संसार में सुख के स्थान में बराबर दुःख ही दुःख दीख पड़ता है।

इत्येवं नैकधानर्थमूलं मिथ्यामतिर्नृणाम्।
जीवनास्थाविहीनांस्तान् विदधाति भयार्दितान् ॥३॥

'जीवन को मृत्यु का भय है', 'मृत्यु-पर्यन्त ही जीवन है', तथा 'जन्मसे ही आयु घटने लगती है और बराबर मृत्यु के पास पहुँचती जाती है' इस प्रकार के अनेकानेक अनर्थों के मूल परम्परागत मिथ्या-विचार मनुष्यों को जीवन में आस्था से रहित और भय से व्याकुल बनाते हैं।

निराशावादिनो मन्दा मोहावर्त्तेऽत्र दुस्तरे।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथावशाः ॥४॥

प्रगति की भावना से विहीन निराशावादी लोग मोह के दुस्तर भँवर में पड़े हुए दलदल में फँसी बेबस गौओं के समान दुःख को पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमभिधत्तेऽसकृच्छ्रुतिः।
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"[1], "जीवा ज्योतिरशीमहि"[2] ॥५॥

उनके प्रति अनुकम्पा के भाव से ही वेद में "मनुष्य को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए", "हम बराबर प्रकाशमय आशामय जीवन को प्राप्त करें" इस प्रकार बार-बार कहा गया है।

कर्मैव जीवनं तस्माद्, विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम् ॥६॥

इसलिए कर्म का ही नाम जीवन है। उत्तरोत्तर लोकों में उसके प्रकाशमान विकास को ही हमें अपना ध्येय समझना चाहिए।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ॥७॥

वास्तव में हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नति-शील और शाश्वत (= दास रहने वाला) है। उसका स्वरूप अज्ञान-रूपी अन्धकार से सर्वथा अस्पृष्ट है।

---

१ तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (यजु० ४०।२)।
२ तु० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७।३२।२६)।

: ३ :

संयतस्व जीवनाय

जीवन के लिए बराबर यत्न करो

"उदायुषा स्वायुषोदस्थाम् ॥" (यजु० ४।२८)

अर्थात्, हम दीर्घ और शुभ जीवन के लिए उद्योगशील रहें।

प्राप्य मानवीयजन्म पुण्यकर्मसंचयेन।
दीनदुःखिरक्षणेन संयतस्व जीवनाय ॥१॥

मनुष्य-जन्म को पाकर, पवित्र कर्मों का संचय और दीन-दुःखियों की रक्षा-सेवा करते हुए जीने का यत्न करो।

सत्पथानुवर्तनेन भव्यभावभावनेन।
लोकशंप्रसारणेन संयतस्व जीवनाय ॥२॥

सदाचार के मार्ग पर चलते हुए, सुन्दर-समुन्नत विचारों को रखते हुए, और लोक-कल्याण का प्रसार करते हुए जीने का यत्न करो।

दैन्यभावभञ्जनेन धैर्यधर्मधारणेन।
वीरतासमाश्रयेण संयतस्व जीवनाय ॥३॥

दीनता के भाव का भञ्जन करते हुए, धैर्य-रूपी धर्म को धारण करते हुए, वीरता-पूर्वक जीने का यत्न करो।

जीवनं त्विदं मृषेति पामरा जना वदन्ति।
नैव तत्तथा, ततोऽत्र संयतस्व जीवनाय ॥४॥

यह जीवन मिथ्या है, ऐसा मूर्ख-पामर लोग कहते हैं। पर जीवन मिथ्या नहीं है। इसलिए इस संसार में जीने का यत्न करो।

: ४ :

जयन्ति के जना भुवि ?

संसार में जय किन लोगों की होती है ?

"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" (ऐतरेयब्राह्मण १।१३)

अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

परोपकारतत्पराः स्वदेशभक्तिवत्सलाः।
अमत्सरास्तथापि ये जयन्ति ते जना भुवि ॥१॥

परोपकार-परायण और अपने देश की भक्ति में तत्पर होते हुए भी जो अभिमान से रहित होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

उदात्तकर्मशालिनो न दैन्यभावधारिणः।
तथापि सन्ति प्रथिता जयन्ति ते जना भुवि ॥२॥

उदात्त कर्मों को करने वाले और दीनता के भाव से दूर रहने वाले होते हुए भी जो नम्र होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

विहातुमुद्यताः सदा परार्थमात्मनो हितम्।
अथाभिमानवर्जिता जयन्ति ते जना भुवि ॥३॥

दूसरों के निमित्त अपने हित को छोड़ने के लिए सदा उद्यत होते हुए भी जो स्वयं अभिमान से रहित होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

विसृष्टकीर्तिकामनाः स्वधर्मपालने रताः।
तथापि ये यशस्विनो जयन्ति ते जना भुवि ॥४॥

कीर्ति की कामना को छोड़ कर स्वधर्म के पालन में तत्पर होते हुए भी जो यशस्वी होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

विरागमूर्तयोऽपि ये स्वदेशरागशोभिताः।
अरण्यवासनिःस्पृहा जयन्ति ते जना भुवि ॥५॥

स्वयं वैराग्य की मूर्त्ति होते हुए भी जो स्वदेश के राग (=प्रेम) से शोभित हैं और अपने कर्तव्य से भाग कर वनवास के लिए उत्सुक नहीं है, संसार में उन्हीं की जय होती है।

अमायिनो दृढव्रतास्तपस्विनो जितेन्द्रियाः।
सदाशया महाशया जयन्ति ते जना भुवि ॥६॥

जो छल-कपट से रहित, दृढ़व्रत, तपस्वी, जितेन्द्रिय और शुभ तथा उच्च विचारों वाले होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

: ५ :

गन्तव्यं शिखरं महत्

गन्तव्य महान् शिखर

"कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे।" (ऋग्० १।३६।१४)

अर्थात्, भगवन्! हमें उद्योगशील जीवन के लिए समुन्नत कीजिए।

१९५३ के जून मास में एवरेस्ट-शिखर पर तेनसिंग के पहुँचने पर उनके प्रति साधु-वाद की गूँज संसार भर में व्याप्त हो रही थी। उसी से प्रभावित होकर २३।६।५३ को नीचे के पद्य लिखे गए थे। इनका अभिप्राय यही है कि तेनसिंह के समान ही प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन के आदर्श-रूपी महान् शिखर पर पहुँचने का प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिए।

जीवनेऽस्मिन् मनुष्येण स्वाभीष्टशिखरं महत्।
गन्तव्यं विद्यते, कृत्वा सर्वा बाधा अधस्पदम् ॥१॥

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में--समस्त बाधाओं को पैरों तले रौंदते हुए अपने अभीष्ट आदर्श-रूपी महान् शिखर पर पहुँचना ही है--ऐसा विचार रखना चाहिए।

नीचे जीवन के स्वाभीष्ट शिखर पर पहुँचने के उपाय का वर्णन करते हैं--

येयं भगवती शक्तिर् लोकान् संव्याप्य तिष्ठति।
सिद्धिरूपेण तां नित्यमाश्रयेत् शिखरंगमी ॥२॥

समस्त लोक-लोकान्तरों में व्याप्त हो कर उनका नियन्त्रण करने वाली निश्चय ही एक महती शक्ति है। सब प्रकार की सिद्धि की वही अधिष्ठातृ-देवता है। जो अपने जीवन के अभीष्ट शिखर पर (या आदर्श तक) पहुँचना चाहता है उसे उसी भगवती शक्ति का सिद्धि के रूप में आश्रय लेना चाहिए।

तस्या एव प्रभावेण महिम्ना च महीयते।
प्रत्यूहराक्षसान् हत्वा मानवोऽत्र न संशयः ॥३॥

उसी भगवती महाशक्ति के प्रभाव और महिमा से मनुष्य स्वकीय अभीष्ट की सिद्धि में बाधक विघ्न-रूपी राक्षसों का हनन कर के निस्संदेह महत्त्व को प्राप्त हो सकता है।

नीचे प्रतीकात्मक शैली से उस भगवती महाशक्ति के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन करते हैं—

सिंहारूढा त्रिनेत्रा च धनुर्बाणधरा शुभा।
सुप्रसन्ना महाविद्या या, तां देवीं नमाम्यहम् ॥४॥

मैं उस महाशक्ति देवी को प्रणाम करता हूँ जो सिंहारूढ़ है (अर्थात्, महा-भयंकर बाधाओं पर विजय प्राप्त करने वाली है), जो त्रिनेत्रा है (अर्थात्, अलौकिक दिव्य दृष्टि से युक्त है), जो धनुष् और बाण को धारण करने वाली है (अर्थात्, सर्वदा जागरूक और संनद्ध रहने वाली है), जो कल्याण करने वाली और सदा प्रसन्न रहने वाली है, (अर्थात्, धनुर्बाणधरा होने पर भी उसमें क्रूरता और क्रोध नहीं है) और जो महाविद्या है।

अभिप्राय यही है कि समस्त विश्व की संचालिका महाशक्ति को इस प्रकार मूर्त-रूप में सदा अपना सहायक समझते हुए मनुष्य को पूर्ण अध्यवसाय और विश्वास से अपने उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

जीवन का दूसरा नाम संघर्ष है। अपने आदर्शों की प्राप्ति में मनुष्य को अनेक प्रकार के, बाह्य तथा आभ्यन्तर, शत्रुओं या बाधक शक्तियों का प्रतिरोध करना पड़ता है। इसी दृष्टि से उपर्युक्त सिद्धिदात्री भगवती शक्तिदेवी की प्रार्थना नीचे दी जाती है—

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां भयङ्करम्।
हन्तारं कुरु शत्रूणां[1] देवि! दारिद्र्यनाशिनि ॥५॥

सब प्रकार के दारिद्र्य या अपूर्णता को नाश करने वाली हे भगवति शक्ति-देवि! मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करके पूर्णता की ओर बढ़ने को उत्सुक हूँ। तुम मुझे जो मेरे समान हैं उनमें श्रेष्ठ, जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं उनके लिए भयंकर, जो मेरे बाधक हैं उनके लिए विनाशकारी बनाओ। अर्थात्, अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सब प्रकार की बाधाओं को पैर तले कुचलते हुए मैं बराबर आगे ही बढ़ता चलूँ।

---

१ तु० "ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥"
(ऋग्० १०।१६६।१)

: ६ :

इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम्

मैं ही इन्द्र तथा इन्द्रकर्मा हूँ

'अहमिन्द्रो न परा जिग्ये।' (ऋग्० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता।

अज्ञानोपहत मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित है। संस्कृति और सभ्यता के महान् उत्कर्ष, विशाल संस्थायें और संगठन, महापुरुषों के लोकोत्तर चरित्र और कार्य, एक प्रकार से, मानव के महत्त्व की ही व्याख्या करते हैं, यह वह नहीं जानता। अन्त में, विश्व की संचालिका दिव्य महाशक्ति उसमें ही मूर्तिमती होकर प्रस्फुटित या अवतीर्ण होती है या हो सकती है, इसका भी उसको भान नहीं होता। इसीलिए मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का गुण-गान नीचे के पद्यों में किया गया है।

इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीनां वधोऽस्म्यहम्।
तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि दधाम्यहम् ॥१॥

मैं सर्वैश्वर्य-शाली इन्द्र हूँ, मैं इन्द्र-कर्मा हूँ। मैं शत्रुओं का विनाश हूँ। शत्रुओं की बाधाओं को ध्वस्त करके मैं ही उनको आक्रान्त करता हूँ।

ऐश्वर्याणि समग्राणि वर्त्तन्ते यानि कानिचित्।
वर्तेऽधिदेवता तेषां भोक्ता चापि न संशयः ॥२॥

जो भी ऐश्वर्य दृष्टि-गोचर होते हैं उन सबका अधिष्ठातृ-देवता तथा भोक्ता निस्सन्देह मैं ही हूँ। अर्थात्, समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति मनुष्य द्वारा ही होती है और उनका ऐश्वर्यत्व इसी में है कि मनुष्य उनका उपभोग करता है।

इन्द्रियेष्वस्ति या शक्तिर्याश्च तेषां प्रवृत्तयः।
तासामहमधिष्ठाता स्रष्टा द्रष्टा च वस्तुतः ॥३॥

आभ्यन्तर जगत् की दृष्टि से भी मनुष्य में इन्द्रत्व की व्याख्या इस पद्य में की गयी है।

आँख, हस्त-पादादि इन्द्रियों में जो शक्ति विद्यमान है, या जो भी उनकी प्रवृत्तियाँ हैं उन सब का अधिष्ठाता (=नियन्त्रण करने वाला), स्रष्टा (=जनक या उद्गम) तथा द्रष्टा (=उपभोक्ता) वास्तव में मैं ही हूँ।

अत एवेन्द्रशब्देन व्युत्पत्तिः क्रियते बुधैः।
इन्द्रियेत्यस्य शब्दस्य शब्दशास्त्रविशारदैः[1] ॥४॥

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप में इन्द्रत्व को मान कर ही शब्द-शास्त्र-विशारद महामुनि पाणिनि जैसे वैयाकरणों ने 'इन्द्रिय' इस शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्द्र' शब्द से की है।

: ७ :

अन्तर्यामिन्! ममैवात्मन्!

मेरे ही अन्तर्यामिन् आत्मन्!

"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" (यजु० ४०।१७)

अर्थात्, यह जो आदित्य-मण्डल में पुरुष है वह मैं ही हूँ।

अपने वास्तविक स्वरूप के अनुसन्धान में अन्तर्मुखता को प्राप्त हुआ मनुष्य विश्व-प्रपञ्च की नियामिका महाशक्ति या अन्तर्यामी महान् आत्मा के साथ प्रायेण अपने ऐक्य का अनुभव करता है। उस अवस्था में उसे अपना ही आत्मा स अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के असंख्येय सूर्यों के समान प्रकाशमान प्रतीत होता है। अन्त में वही उसके भाग्य-विधाता तथा सिद्धिदायक इष्टदेव का रूप ग्रहण कर लेता है। नीचे के पद्य में इसी दृष्टि से अपने आत्मा से ही प्रार्थना की गयी है।

साधारण दृष्टि से भी आत्म-विश्वासी मनुष्य यही अनुभव करता है कि वह स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है। उसको अपना आत्मा समस्त-विश्व-नियामिका शक्ति से अभिन्न, अतएव असंख्येय सूर्यों के समान प्रकाशमान और समस्त शक्तियों का केन्द्र प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्म-विश्वासी मनुष्य नीचे की प्रार्थना कर सकता है—

---

१ तु० "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" (पाणिनिकृत अष्टाध्यायी ५।२।९३)। इस सूत्र द्वारा 'इन्द्र' शब्द से ही 'इन्द्रिय' शब्द बनाया गया है। स्पष्टतः यहाँ 'इन्द्र' शब्द से अभिप्राय जीवात्मा का है।

अन्तर्यामिन् ! ममैवात्मन् ! सूर्यकोटिसमप्रभ !
निर्विघ्नं कुरु मे देव ! सर्वकार्येषु सर्वदा ॥१॥[1]

करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाश से युक्त हे अन्तर्यामिन्! मेरे ही आत्मन्! मेरे समस्त कार्यों में आने वाले विघ्नों का वारण करो।

: ८ :

सत्त्ववन्तो महान्तः

उदात्तचरित्र महान् पुरुष

"अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्" (अथर्व० १२।१।५४)

अर्थात्, मैं विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर पृथिवी पर उत्कृष्ट पद को प्राप्त करने वाला हूँ।

महतामथ क्षुद्राणामन्तराय उपस्थिते।
कृशानौ कनकस्येव परीक्षा जायते ध्रुवम् ॥१॥

अग्नि में जैसे स्वर्ण की परीक्षा हो जाती है, इसी प्रकार विघ्न या बाधा के उपस्थित होने पर निश्चय ही महान् और क्षुद्र लोगों की परीक्षा हो जाती है।

वातेरिताः प्रकम्पन्ते वृक्षा एव, न पर्वताः।
आपत्तिसमये वृत्तं क्षुद्राणां महतां तथा ॥२॥

तेज वायु या आँधी के चलने पर वृक्ष ही काँपने लगते हैं, पर्वत नहीं। आपत्ति के आने पर क्षुद्र और महान् लोगों की ऐसी ही दशा होती है। अर्थात् आपत्ति के समय क्षुद्र लोग ही घबड़ाते हैं, महान् पुरुष अविचल ही रहते हैं।

तस्मादापत्तिकाले ये महान्तोऽन्तरवेक्षिणः।
तिष्ठन्ति निश्चला धैर्यमूर्त्तयो न विकुर्वते ॥३॥

---

१ तु "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥" (भगवद्गीता ६।५)

इसलिए आपत्ति के समय जो अन्तरवेक्षी (विचारशील, या आत्मपरीक्षक) महान् पुरुष होते हैं वे धैर्य-मूर्त्ति-रूप से निश्चल ही रहते हैं और किसी प्रकार के विकार को नहीं प्राप्त होते।

यथा सोपानमारोहन् क्रमशः सपरिश्रमम्।
प्रासादस्योत्तमं खण्डमासादयति मानवः ॥४॥
तथा सोपानरूपास्ताः संकटानां परम्पराः।
समाक्रम्य समुत्कृष्टं पदमाप्नोति सत्त्ववान् ॥५॥

॥ इति रश्मिमालायां जीवनसंगीतकं नाम प्रथमो रश्मिः ॥

जैसे किसी सीढ़ी पर परिश्रम-पूर्वक चढ़ता हुआ मनुष्य क्रमशः किसी प्रासाद के सब से ऊँचे खण्ड पर पहुँच जाता है, इसी प्रकार उत्साही धैर्यशील चरित्रवान् मनुष्य बराबर आने वाले संकटों को सीढ़ी के समान आक्रान्त करता हुआ अन्त में अत्युत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेता है।

द्वितीयो रश्मिः

दुःख-मीमांसा

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते...॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि...॥
(ऋग्० ९।११३।७,११)

भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
(साम० उ० ५।२।१४)

मा भैः, मा संविक्थाः।
(यजु० १।२३)

●

द्वितीय रश्मि

दुःख-मीमांसा

हे पवमान देव! मुझे उस अमृत तथा अक्षय स्थिति में स्थापित कीजिए जहाँ सर्वदा रहने वाली ज्योति और दिव्य सुख विद्यमान हैं।...हे देव! मुझे उस स्थिति में अमृतत्व प्रदान कीजिए जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं। और जहाँ अभीष्ट लक्ष्य भी प्राप्त हों।...

(ऋग्० ९।११३।७, ११)।

परमैश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं।
(साम० उ० ५।२।१४)

न तो तुम डरो न उद्विग्नता को प्राप्त होओ!
(यजु० १।२३)

: ६ :

दुःख मीमांसा

दुःख के स्वारूप पर विचार

हमारे देश की विचारधारा में इधर चिरकाल से दुःखविषयक विचारों और तन्मूलक विभीषिका ने एक ऐसा वातावरण बना रखा है जो वैयक्तिक तथा जातीय दोनों दृष्टियों से हमारे लिए प्रायेण घातक सिद्ध हुआ है। 'संसार दुःखमय है, अतएव असार और हेय है', 'जीवन दुःख-रूप है, अतएव बन्ध (= कारागार) है, उससे किसी प्रकार छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारे जीवन का परम ध्येय है',[१] 'दुःख सब को ही प्रतिकूल और बाधा के रूप में प्रतीत होता है',[२] 'विवेकी मनुष्य को सब कुछ दुःख-रूप में ही देखना चाहिए'[३] इस प्रकार के विषाक्त अनार्य विचारों ने जहाँ एक ओर हमारे जीवन को नीरस, मन्द, उत्साह-हीन, नैराश्यपूर्ण और अकर्मण्य बनाने में बड़ा भाग लिया है, वहाँ दूसरी ओर हमारे करोड़ों भाइयों में जीवन-संघर्ष से मुंह छिपा कर, प्रायः अपरिपक्व दशा में ही, संन्यास की मिथ्या-प्रवृत्ति को बराबर प्रोत्साहित किया है।

दुःख के विषय में उपर्युक्त विचार से यदि कोई आगे बढ़े हैं तो उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि कर्मयोगी को सुख-दुःख को समान समझ कर ही जीवन के युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए।[४]

परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में दुःख के स्वरूप के विषय में हम एक नितरां नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं।[५] हमारे परिज्ञान में यह विचार भारतीय वाङ्मय में कहीं देखने में नहीं आये हैं। दुःखों से उद्विग्न मानव को उनसे एक नया ही प्रकाश मिलेगा, ऐसी हमारी धारणा है।

---

१ तु० "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्यसूत्र १।१)।
२ तु० "बाधनालक्षणं दुःखम्", "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्यायसूत्र १।१।२१-२२)।
३ तु० "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योगसूत्र २।१५)।
४ तु० "सुखदुःखे समे कृत्वा.... ततो युद्धाय युज्यस्व" (भगवद्गीता २।३८)।
५ इस विषय के विशेष विचार के लिए 'कल्पना' (जनवरी १९५४) में प्रकाशित हमारा "भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका" शीर्षक लेख देखिए।

नीचे के पद्यों में दुःख के विषय में युक्ति और उपपत्ति के साथ जो सिद्धान्त हमने उपस्थित किये हैं वे संक्षेप में मुख्यतः इस प्रकार हैं--

(१) दुःख की प्राप्ति आकस्मिक या अहेतुक नहीं होती।

(२) सृष्टि की योजना में दुःख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती।

(३) दुःख से लगने वाले भय के मूल में हमारा अज्ञान ही कारण होता है। महान् पुरुष तो दुःख और कष्टों का स्वागत ही करते हैं।

(४) दुःखों को कार्यसिद्धि की आवश्यक भूमिका समझना चाहिए।

(५) स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तप के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। तप से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(६) मनुष्य की समुन्नति में दुःख केवल सीढ़ियों के समान होते हैं।

यहाँ इस लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। नीचे हम पद्यों का केवल स्पष्टार्थ देते हैं:--

उद्वेगजनकं दुःखं सर्वेषामेव प्राणिनाम्।
सेयमापाततो बुद्धिस् तत्त्वदृष्ट्या विविच्यते ॥१॥

इस संसार में दुःख से सब कोई घबड़ाते हैं; दुःख को उद्वेग-जनक समझते हैं। दुःख के विषय में यह जो आपाततः विचार है उसका यहाँ हम तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करेंगे।

न चैवाकस्मिकं दुःखं न चाप्यस्त्यप्रयोजनम्।
न चैवावश्यकं, दुःखं दुःखमित्येव मन्यताम् ॥२॥

दुःख के विषय में विचार करने पर, न तो हम उसको आकस्मिक अथवा अहेतुक कह सकते हैं, न निष्प्रयोजन। दुःख को दुःखस्वरूप में ही अनुभव किया जावे, यह भी आवश्यक नहीं है।

दुःख आकस्मिक नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं:--

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित्।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् कथं दुःखमहेतुकम् ?॥३॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा सारे जगत् का संचालन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में किसी के ऊपर आने वाला दुःख अहेतुक है, अर्थात्, उसका कोई हेतु नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है?

दुःख निष्प्रयोजन भी नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं:--

गर्भावस्थां समारभ्य या यावन्म्यानुभूयते।
प्राणिना, तद्धितायैव स्पष्टं तस्याः प्रयोजनम् ॥४॥

जब से प्राणी गर्भावस्था में आता है उसे बराबर नयी नयी दशाओं का अनुभव करना पड़ता है। शास्त्रों में उनका प्रायः भयानक दुःखमय अवस्थाओं के रूप में वर्णन मिलता है। उन दशाओं को हम दुःखमय मानें या न मानें, इतना तो स्पष्ट है कि उनका प्रभाव प्राणी के लिए हितकर ही होता है।

अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था के समान प्रत्येक दुःखावस्था मनुष्य के हित के लिए ही होती है। गर्भावस्था के अनुभव के पश्चात् ही राम, कृष्ण, बुद्ध और गांधी जैसे अवतारी पुरुष बनते हैं।

एवं स्थावरलोकेऽपि वृक्षादीनां समुद्भवे।
नानावस्थास्तु बीजस्य जायन्ते सप्रयोजनाः ॥५॥

इसी प्रकार स्थावर जगत् में भी वृक्ष आदि की उत्पत्ति में बोने के पश्चात् बीज की जो सड़ने-गलने आदि की अनेक अवस्थायें होती हैं वे सब सप्रयोजन होती हैं। बीज बोये जाने के पीछे पहले गलता है, फिर सड़ता है। तब कहीं अन्त में वह अंकुर के रूप में उगता है। इस प्रकार आपाततः दुःख की अवस्थाओं को झेलता हुआ ही वह अन्त में आम, अनार, अंगूर जैसे उपयोगी और सुन्दर वृक्षों के रूप में आता है। इसी तरह दुःखावस्था से हमारा अन्त में हित ही होगा, यही समझना चाहिए।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं, नैवात्र संशयः ॥६॥

इसलिए संसार में जिसको दुःख की अवस्था माना जाता है उसका ईश्वर की दृष्टि में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए।

सहेतुकत्वमित्येवं सप्रयोजनतां तथा।
दुःखस्यावेक्ष्य तत्त्वज्ञो न ततो विजुगुप्सते ॥७॥

इस प्रकार दुःख की सहेतुकता और सप्रयोजनता को समझकर, अर्थात्, यह मन में बैठा कर कि ईश्वर की सृष्टि में जो कोई दुःख आता है उसका कोई कारण और प्रयोजन भी अवश्य होता है, तत्त्वज्ञानी मनुष्य दुःखों से कभी नहीं घबड़ाता।

अन्धकारगतः कश्चिद् यथाकस्माद् भयातुरः।
भवेत्तथैव दुःखेभ्यो मन्दानां जायते भयम् ॥८॥

जैसे अन्धेरे में खड़ा हुआ मनुष्य वास्तविक स्थिति को नहीं समझता और 'न जाने कहाँ से क्या आपत्ति आ जावे' यह सोच कर भय से व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी लोग दुःख के कारण और प्रयोजन को न समझते हुए उससे डरते रहते हैं।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
दुःखानां स्वागतं कुर्वन् तत्त्वज्ञो नावसीदति ॥९॥

पर तत्त्वज्ञानी मनुष्य जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है दुःखों का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नहीं प्राप्त होता।

यथा छात्रस्य कस्यापि तापसस्य धनार्थिनः।
कष्टानां महतामङ्गीकारो दृष्टः फलार्थिनः ॥१०॥

जैसे अपने अपने अभीष्ट लक्ष्य (क्रम से विद्या, आध्यात्मिक सिद्धि और संपत्ति) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला एक विद्यार्थी, तपस्वी या धनार्थी प्रसन्नता से बड़े बड़े कष्टों को सहता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ दुःखों और कष्टों को सहर्ष स्वीकार करता है।

विधातुः सर्वलोकस्याभिप्रायोऽप्येष दृश्यते।
यत्कार्यसिद्धितः पूर्वं कष्टस्वीकरणं मतम् ॥११॥

समस्त संसार की सृष्टि करने वाले प्रजापति का अभिप्राय भी यही दीखता है कि किसी भी कार्य की सिद्धि से पहले कष्ट या दुःख को उठाना ही चाहिए। दूसरे शब्दों में, भगवान् की रची हुई इस सृष्टि में सब के लिए यह स्वाभाविक है कि अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए कष्ट या दुःख को उठाया जाय।

अत एव सिसृक्षुः सन् लोकानेतान् प्रजापतिः।
"तपोऽतप्यत", नैकत्र श्रूयते ब्राह्मणादिषु[1] ॥१२॥

इसीलिए शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जहाँ कहीं 'प्रजापति ने इन लोकों की सृष्टि करने की इच्छा की' इस बात का प्रसंग आया है वहाँ 'प्रजापति ने तप किया' ऐसा कहा गया है।

---

१ तु० "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत। भूयान् स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत।....." (शतपथ-ब्राह्मण ६।१।१।८)।

अभिप्राय यह है कि औरों की तो बात ही क्या, प्रजापति या ब्रह्मा को भी सृष्टि की रचना से पहले तप करना पड़ता है।

स्वेच्छा से स्वीकार किये गये दुःख या कष्ट को ही तप कहते हैं, यह नीचे कहा गया है।

शिवस्य नीलकण्ठस्य विषपानं यदुच्यते।
व्याख्यानमस्य तेनापि सिद्धान्तस्य विधीयते ॥१३॥

पुराणों में भगवान् नीलकण्ठ शिव की विष-पान की कथा प्रसिद्ध है। वास्तव में उस कथा से उक्त सिद्धान्त की ही व्याख्या की गयी है। संसार में कौन स्वेच्छया विष-पान करने को तैयार होगा? फिर भी लोक-कल्याण की इच्छा से शिव जी ने प्रसन्नता-पूर्वक भयंकर विष का पान किया। इसलिए अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रसन्नता-पूर्वक कष्ट को स्वीकार करना चाहिए।

रामस्य तस्य भीष्मस्य बुद्धस्यापि महात्मनः।
क्राइस्टस्य जिनस्यापि गान्धिनश्च महात्मनः ॥१४॥
जीवनेषु तथान्येषां लोकोत्तरयशस्विनाम्।
स्वेच्छयैव सुखं त्यक्त्वा कष्टस्वीकरणं मतम् ॥१५॥

उक्त कारण से ही भगवान् राम, सुप्रसिद्ध भीष्म पितामह, महात्मा बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, भगवान् महावीर, महात्मा गांधी तथा अन्य लोकोत्तर यशवाले महापुरुषों के जीवन में देखा जाता है कि उन्होंने महान् आदर्शों के पालन के लिए स्वेच्छा से सुखों को छोड़ कर कष्टों को स्वीकार किया।

आपेक्षिकी मता तस्माद् भावना सुखदुःखयोः।
नैकान्तिकं तयो रूपमित्येवमवधार्यताम् ॥१६॥

इसलिए सुख और दुःख की भावना को आपेक्षिक ही मानना चाहिए। उनमें से किसी का अपना कोई निश्चित या ऐकान्तिक रूप नहीं है।

दुःखं वै दुःखरूपेण तावदेव प्रतीयते।
यावत्परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते ॥१७॥

दुःख दुःखरूप से तभी तक प्रतीत होता है जब तक कि उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है।

दुःखं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञः प्रसन्नेनान्तरात्मना।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशयः ॥१८॥

यदि बुद्धिमान् मनुष्य आये हुए दुःख को स्वेच्छा-पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है तो वही दुःख उसके लिए निःसन्देह तप का रूप धारण कर लेता है।

आशय यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह सहसा आये हुए दुःख को अपनी उन्नति की प्राप्ति में सहायक तप मान कर प्रसन्नता से सहे। इस प्रकार वह दुःख उसके लिए कल्याण का ही साधक हो सकता है।

नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः।
आचरन्त्यात्मनः शुद्धयै श्रद्धया ये मनीषिणः ॥१९॥

यह कौन नहीं जानता कि शास्त्रों मे अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपों का विधान किया गया है। जो बुद्धिमान् हैं वे आत्म-शुद्धि के लिए उन तपों का श्रद्धा से विधि-पूर्वक पालन करते हैं।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम्।
लोकेऽत्र तपसा धीर उन्नतेर्मूर्धनि तिष्ठति ॥२०॥

तप की महिमा महान् है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। धीर पुरुष संसार में तप द्वारा ही उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

ततोऽनिवार्यदुःखं यत् प्राप्तं भवति जीवने।
तप इत्येव तद्विद्याद् य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥२१॥

इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि जीवन में जो कोई अनिवार्य दुःख प्राप्त हो उसे वह अपनी अभीष्ट-सिद्धि का साधक तप ही समझे और माने।

हिरण्यस्य यथा शुद्धिरग्नितापेन जायते।
तथैव दुःखतप्तानां जायते कल्मषक्षयः ॥२२॥

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण की शुद्धि हो जाती है, इसी प्रकार दुःख-रूपी तप से तपे हुओं के कल्मष या पाप का नाश हो जाता है।

रम्यं प्रासादमारोहन्नत्युच्चशिखरस्थितम्।
कष्टानि सहते धीरः प्रसन्नो लक्ष्यसिद्धये ॥२३॥

किसी पर्वत के अति ऊँचे शिखर पर बने हुए रमणीय प्रासाद तक पहुँचने के निमित्त ऊपर चढ़ने वाला धीर मनुष्य अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रसन्नता-पूर्वक कष्टों को सहता है।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
एवं वेदोक्तमार्गेण दुःखादुद्विजते न सः[1]॥२४॥

इसी प्रकार 'तुम उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त करो'[2] इस वैदिक उपदेश के अनुसार जो मनुष्य अपनी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट समुन्नति के लिए उत्सुक है वह दुःख से कभी नहीं घबड़ाता।

देवाधिदेवतत्त्वेन करुणाप्लुतचेतसा।
नूनं सृष्टं जगत्कृत्स्नं भूतानामुद्धिर्षया[3]॥२५॥

इसमें सन्देह नहीं कि उस परमतत्त्व परमात्मा ने, जो देवताओं का भी अधिष्ठातृ-देवता है, करुणा-वश हो कर प्राणियों के उद्धार की इच्छा से ही समस्त जगत् की सृष्टि की है।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिणः॥२६॥

सृष्टि के विषय में उपर्युक्त वस्तुस्थिति के होने से, लोक में जिसको दुःखावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए ही होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नहीं होते।

कदाचिदेतदेवात्र कारणं येन, विस्मयः!।
कुत्रापि वेदमन्त्रेषु दुःखशब्दो न दृश्यते॥२७॥

॥ इति रश्मिमालायां **दुःखमीमांसा** नाम द्वितीयो रश्मिः ॥

दुःख के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है कदाचित् उसी कारण से, यह आश्चर्य की बात है कि, वैदिक संहिताओं के मन्त्रों में कहीं भी 'दुःख' शब्द नहीं पाया जाता।

---

१ तु० "आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम्॥"
(वाल्मीकिरामायण ३।९।३१)।

२ तु० "भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" (ऐतरेयब्राह्मण १।१३)
(अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो)।

३ तु० "भद्रा इन्द्रस्य रातयः" (साम० उ० ५।२।१४)
(अर्थात्, भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं)।

तृतीयो रश्मिः

व्रत-ग्रहणम्

अथवा

चारित्र्य-सम्पत्तिः

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
(यजु० १९।३०)

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज। (यजु० ४।२८)

●

तृतीय रश्मि

व्रत-ग्रहण

अथवा

चारित्र्य-संपत्ति

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।
(यजु० १९।३०)

हे प्रकाशस्वरूप देव! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में स्थापित कीजिए। (यजु० ४।२८)

: १० :

व्रतमात्मविशुद्धये

व्रत से आत्मविशुद्धि

"अग्ने ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि...
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतपते प्रकाश-स्वरूप देव ! मेरी प्रार्थना है कि मैं व्रत का पालन करता हुआ अनृत से सत्य की ओर प्रगति करूँ।

जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है। आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम-पालन से ही प्राप्त हो सकते है। जीवन में व्रतों के ग्रहण और पालन का यही रहस्य है। इसी सिद्धान्त का विशदी-करण किसी व्रती के मुख से नीचे के पद्यों में कराया गया है:—

उत्तरोत्तरमुत्कर्ष जीवने लब्धुमुत्सुकः।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये ॥१॥

अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए मैं उत्सुक हूँ। आत्म-विशुद्धि या पवित्राचरण से ही यह हो सकता है। उस आत्म-विशुद्धि के लिए व्रताचरण की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।

व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम्।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम् ॥२॥

व्रतों के पालन से ही संयमी मनुष्यों को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का दर्शन होता है जो कि आत्म-विश्वास का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि व्रतों के आचरण से ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति को पहचानता है, और इसी प्रकार उसमें आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकानां मार्गदर्शकैः।
सेवितो विततः पन्था एष नैवात्र संशयः ॥३॥

संसार को सन्मार्ग दिखाने वाले ऋषियों और मुनियों ने वास्तव में इसी विशद मार्ग का सेवन किया था। अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य ऋषि और मुनि की पदवी को प्राप्त कर सकता है।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम्।
व्रतानां पालनेनैव देवा अमृतभोजिनः ॥४॥

विश्व के विभिन्न कार्यों को निरन्तर नियमपूर्वक करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं को व्रतों के पालने के कारण से ही अमृत-भोजी (=अमृत अथवा अमृतत्व का सेवन करने वाले) कहा गया है। दूसरे शब्दों में, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्व के संचालनार्थ अपने अपने महान् व्रत अथवा कर्तव्य का अविचल-भाव से पालन करते हैं। इसी आधार पर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य को अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवन का बोध हो सकता है।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥५॥

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि व्रतों के पालने से ही मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

: ११ :

ब्रह्मचर्यम्

ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति" (अथर्व० ११।५।२४)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ब्रह्म को धारण करता है।

ऊपर मनुष्य के लिए व्रताचरण की महिमा का वर्णन किया है। सब व्रतों के मूल में ब्रह्मचर्य-व्रत है। उसी का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है.—

जीवनं वै महान् यज्ञस् तस्य सिद्धयै मनीषिभिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥१॥

जीवन एक महान् यज्ञ है। उसकी सफलता के लिए मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मनीषियों का उपदेश है।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥२॥

जैसे किसी महल के बनाने में नींव की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥३॥

तप के रूप में ब्रह्मचर्य के व्रत को पूर्ण करने वाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले।
तस्यैवेहातिसंक्षिप्ता काचिद् व्याख्या विधीयते ॥४॥

संसार में प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है। उसी की कुछ अति-संक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि वस्तूनां यत्तत्कारणमव्ययम्।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥५॥

तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥६॥

विश्व की समस्त वस्तुओं का जो अक्षय, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है उसको, तथा ज्ञानरूपी वेद को भी, ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार के ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से जो व्रत ग्रहण करता है उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं।

समष्टिरूपं यद् ब्रह्म तद्रूपं ज्ञानमेव यत्।
ताभ्यां सायुज्यसंपत्त्यै ब्रह्मचारी सदेप्सति ॥७॥

समस्त पदार्थों की समष्टि-रूप जो ब्रह्म है, तथा समष्टचात्मक (अथवा व्यापक) जो ज्ञान है, उन दोनों के साथ सायुज्य अथवा तादात्म्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचारी सदा इच्छा करता है।

एतस्यां भूमिकायां तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिणः।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं जीवनं लक्ष्यमुच्यते ॥८॥
"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि[1]", "भद्रं भद्रं न आभर[2]"।
इत्येवं बहुशो मन्त्रैरेष एवार्थ उच्यते ॥९॥

उक्त मानसिक परिस्थिति में वर्तमान ब्रह्मचारी के लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है। "तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो", "भगवन्! हमारे लिए बराबर कल्याण को ही लाइये" इस प्रकार अनेकानेक वेद-मन्त्र इसी बात को कहते हैं।

तदर्थं स्वीयशक्तीनां विकासः संचयस्तथा।
श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥१०॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा।
प्रथमं तस्य कर्तव्यं जायते प्रथमाश्रमे ॥११॥

उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम आश्रम (=ब्रह्मचर्याश्रम) में उसका मुख्य कर्तव्य होता है—अपनी शक्तियों का विकास और संचय, मन वाणी और शरीर के संयम के साथ श्रम और तप का आचरण, चरित्र का निर्माण और विद्या का उपार्जन।

---

१ ऐतरेयब्राह्मण १।१३।
२ सामवेद पू० २।८।९।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्विषम्।
तपसा वर्तमानः स उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥१२॥

तप द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। तप का आचरण करता हुआ वह उन्नति के शिखर पर आसीन होता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेन शुद्धधीः।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वस्येष्टे न संशयः ॥१३॥

तप से चरित्र की दुर्बलताओं को दूर कर और मनोविकास द्वारा तत्त्वावगाहिनी विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट हुआ समस्त परिस्थितिओं को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है।

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः"[1]।
"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति"[2] ॥१४॥
"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[3] ॥१५॥
"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्"[4] ॥१६॥
इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्यं चोपवर्ण्यते ॥१७॥

"ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला प्रकाशमान ब्रह्म को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात् वह समस्त देवताओं से प्रकाश और शक्ति को प्राप्त कर सकता है)।"

"समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों को पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को आपूरित करता है।"

---

१ अथर्व० ११।५।२४।
२ अथर्व० ११।५।४।
३ अथर्व० ११।५।१७।
४ अथर्व० ११।५।१९।

"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारी को शिक्षणार्थ चाहता है।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओं ने मृत्यु को दूर भगा दिया है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवताओं को दिव्य प्रकाश लाकर दिया है।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र भी अपनी उदात्त भाषा में ब्रह्मचर्य की महिमा और रहस्य का वर्णन करते हैं।

: १२ :

इन्द्रियाश्वान् वशीकृत्य

इन्द्रिय-संयम

"मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु" (यजु० २।१०)

अर्थात्, सर्वशक्ति-निधान परमात्मा हमारी इन्द्रियों को पुष्ट और स्वस्थ बनावें।

"वाचं.. प्राणं...चक्षुः...श्रोत्रं...ते शुन्धामि"
(यजु० ६।१४)

अर्थात्, मैं तेरे वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि को पवित्र करता हूँ।

किसी भी व्रत के ग्रहण और आचरण में इन्द्रियों का संयम प्रथम कर्तव्य होता है। इसीलिए इन्द्रिय-संयम की आवश्यकता का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया जाता है:—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन प्रजा नित्यं विमोहिताः।
यममन्दिरसान्निध्यं स्वयं यान्तीति विस्मयः! ॥१॥

यह आश्चर्य की बात है कि इन्द्रियों में प्रसक्ति के कारण मोह और भुलावे में पड़ कर मनुष्य स्वयं मृत्यु के घर के समीप पहुँचते रहते हैं।

मूलं प्रायेण रोगाणामिन्द्रियाणामसंयमः।
संयमस्तु पुनस्तेषामारोग्याय बलाय च ॥२॥

इन्द्रियों के असंयम से ही प्रायः रोग हुआ करते हैं। परन्तु उनके संयम से मनुष्य आरोग्य और बल को प्राप्त करता है।

इन्द्रियाश्वान् वशीकृत्य नियतं नियतात्मना।
जीवनाध्वानुसर्तव्यः कल्याणमभिलष्यता ॥३॥

जीवन की यात्रा में इन्द्रियाँ घोड़ों के समान हैं। इसलिए आत्म-कल्याण चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह संयम-नियम से रहता हुआ ही इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को वश में रख कर जीवन के मार्ग पर चले।

वश्येन्द्रियस्तदर्थान् वै भुञ्जानो न विषीदति।
जीवनस्य च साफल्यं लभते नात्र संशयः ॥४॥

इन्द्रियों को वश में रख कर उनके विषयों का उपभोग करने वाला विषाद को प्राप्त नहीं होता। वह निस्सन्देह अपने जीवन को सफल बना सकता है।

: १३ :

सुखस्य कारणं स्वान्तम्

मन ही सुख का कारण है।

"भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये" (यजु० १६।३९)।

अर्थात्, पाप को विनाश करने के लिए अपने मन को भद्र-भावनाओं से युक्त बनाओ।

"मनस्त आप्यायताम्" (यजु० ६।१५)।

अर्थात्, तेरा मन पुष्ट और धैर्यवान् हो।

इन्द्रियों में मन मुख्य है। उसको इन्द्रियरूपी घोड़ों का लगाम भी कहा जाता है। वास्तव में मनुष्य के सुख-दुःख का कारण मन ही है। इसलिए उसी के संयम की आवश्यकता को नीचे के पद्यों में बतलाया गया है—

विषयानुपभुञ्जानैः सुखप्राप्तिधिया नरैः।
सुखस्य कारणं स्वान्तमित्येतदवधार्यताम ॥१॥

मनुष्य सुख-प्राप्ति के विचार से विषयों का उपभोग करते हैं। उनको समझ लेना चाहिए कि वास्तव में सुख का कारण मन ही है।

इसी सिद्धान्त को युक्ति से सिद्ध करते हैं--

तमेव विषयं प्राप्य सुखदुःखे ततो नृणाम्।
मनोऽवस्थितिभेदेन जायेते इति दृश्यते ॥२॥

मन ही सुख का कारण है। इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि एक ही विषय को पा कर मन की अवस्था के भेद से मनुष्यों को सुख और दुःख हुआ करते हैं। मन की अवस्था के भेद से एक ही वस्तु हमें कभी सुखद और कभी दुःखद हो जाती है।

अत एवाभियुक्तानां मतमेतन्मनीषिणाम्।
आत्मायत्तं मनो यस्य स एव सुखमश्नुते ॥३॥

इसीलिए विचारशील विद्वानों का यह मत है कि वही मनुष्य सुख को पाता है जिसने अपने मन को अधिकार में कर रखा है।

: १४ :

अविचारकृतं कर्म

विना विचार के किया हुआ कर्म

"मज्जन्त्यविचेतसः" (ऋग्० ९।६४।२१)

अर्थात्, अविचारशील मनुष्य दुःख को प्राप्त होते हैं।

विचारपूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति वाला मनुष्य ही अपनी इन्द्रियों के आवेगों को रोक सकता है, इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:--

पूर्वजन्मकृतं कर्म कारणं सुखदुःखयोः।
दैवं वेत्येष विश्वासः प्रायो लोके प्रवर्त्तते ॥१॥
एवं भवतु मा वा भूद् विद्यते नात्र संशयः।
अविचारकृतं कर्म नूनं दुःखस्य कारणम् ॥२॥

पहले जन्म में किया हुआ कर्म अथवा दैव (या भाग्य) सुख-दुःख का कारण होता है, ऐसा विश्वास प्रायः संसार में फैला हुआ है। वस्तु-स्थिति चाहे ऐसी हो अथवा न हो, इसमें संदेह नहीं है कि बिना विचार के, केवल किसी आवेग के वश, किया हुआ काम अवश्य दुःख का हेतु होता है।

तथा च दृश्यते लोका इन्द्रियाणामसंयमात्।
लभन्ते प्रत्यहं दुःखमनुतापं तथोल्वणम् ॥३॥

सो प्रतिदिन देखने में आता है कि लोग इन्द्रियों के असंयम से दुःख और अत्यन्त अनुताप को पाते हैं।

जिह्वालौल्ये प्रसक्तो यो यस्य वा वागसंयता।
अचिरेणैव पीडायाः पात्रतां याति स ध्रुवम् ॥४॥

॥ इति रश्मिमालायां **व्रतग्रहणं (चारित्र्यसंपत्तिर्वा)** नाम तृतीयो रश्मिः ॥

॥ इति रश्मिमालायां **भूः पटलं** नाम प्रथमो भागः ॥

उदाहरणार्थ, जो जिव्हा के चटोरेपन का आदी है या जिसकी वाणी संयत नहीं है उसे शीघ्र ही निश्चय ही पीड़ा का पात्र बनना पड़ता है।

रश्मि-माला

भुवः पटलं

नाम

द्वितीयो भागः

●

रश्मि-माला

'भुवः पटल'

नामक

द्वितीय भाग

चतुर्थो रश्मिः

कर्मदर्शनम्

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
(यजु० ४०।२)

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं...तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।
(यजु० ४०।१)

सः...याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
(यजु० ४०।८)

इन्द्र इच्चरतः सखा । (ऐतरेयब्राह्मण ७।१५)

●

चतुर्थ रश्मि

कर्म-दर्शन

तू इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर । (यजु० ४०।२)

सारे विश्व में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं...कर्म करने पर उनसे जो भी फल प्राप्त हो उसका तुम उपभोग करो । [यजु० ४०।१]

हमारे जीवन के ईश्वरप्रदत्त पदार्थों में सदा ही योग्यता और औचित्य का आधार होता है । [यजु० ४०। ८]

सर्वशक्तियों के निधान परमेश्वर उसी की सहायता करते हैं जो स्वयं उद्यम-शील । (ऐतरेयब्राह्मण ७।१५)

: १५ :

कर्ममार्गस्य श्रेष्ठत्वम्

कर्ममार्ग की श्रेष्ठता

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (यजु० ४०।२)

अर्थात्, तू इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर।

केवल शुष्क ज्ञान या निरीह शुभ-संकल्पों से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता। उनकी वास्तविकता की परीक्षा कर्म की कसौटी पर ही हो सकती है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्य में किया गया है:—

नैव चिन्तनमात्रेण कार्यं सिध्यति किंचन।
श्रेष्ठत्वं कर्ममार्गस्य श्रुतौ तस्माद्विधीयते ॥१॥

केवल सोचने मात्र से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। इसीलिए ऊपर दी हुई श्रुति में मनुष्य के लिए कर्म-मार्ग के श्रेष्ठत्व का विधान किया गया है।

: १६ :

अदीनाः स्याम

हम अदीन रहें

"अदीनाः स्याम शरदः शतम्।
भूयश्च शरदः शतात्।" (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक बराबर अदीन रहें।

हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते रहें—इसी विषय के प्रतिपादनार्थ नीचे का पद्य दिया जाता है:—

दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवो गतिमात्मनः।
आश्चर्यं मूढतादोषाद् दीनं हीनं च मन्यते ॥१॥

मनुष्य आत्मा की (अथवा अपनी) प्रगति या उन्नति के अनन्त प्रसार (=विस्तार) को देख कर भी, आश्चर्य है, अज्ञान के दोष के कारण, अपने को दीन और हीन समझता है!

व्याख्या

मनुष्य प्रायः अपने मनुष्यत्व की महत्ता या गौरव का अनुभव नहीं करता। प्रकृति या परमात्मा ने उसे दृश्य जगत् के समस्त प्राणियों से ऊँचा स्थान दिया है। उसकी इस महत्ता के मूल में उसकी वह स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके कारण वह सदा अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठना चाहता है।

उसकी इस स्वाभाविक प्रगतिशीलता के क्षेत्र का विस्तार अनन्त है। मनुष्य-जाति के इतिहास में किसी भी मनुष्य ने किसी भी क्षेत्र में बड़ी से बड़ी उन्नति का जो मार्ग प्रदर्शित किया है वह मार्ग प्रत्येक मनुष्य के लिए खुला है। कम से कम ईश्वर ने उसमें ऐसी योग्यता और शक्ति दी है जिससे वह क्रमशः उस मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

शास्त्रों में मनुष्य द्वारा इन्द्रत्व, ऋषित्व, महर्षित्व, बुद्धत्व आदि महान् पदों की प्राप्ति के वर्णन दिये गये हैं। यहाँ तक कि मनुष्य ब्रह्मत्व को भी प्राप्त कर सकता है। ये सारे वर्णन, वस्तुतः, इस सृष्टि में मनुष्य का अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है—इसी महान् सिद्धान्त की व्याख्या-रूप हैं।

परन्तु मनुष्य इस महान् सत्य को भूल कर प्रायः अपने को कितना तुच्छ, कितना दीन-हीन, समझता है और कितनी यातनाओं को उठाता है! कितने अनर्थ करता है!

जैसे एक करोड़पति का बालक, अपनी स्थिति को भुला कर, दर दर भीख माँगता फिरे, ठीक वही दशा संसार में प्रायः मनुष्यों की है। मनुष्यत्व के नाते अपनी स्वभाव-सिद्ध महत्ता को भुला कर वह अपने को प्रायः दीन और हीन समझता है। आत्म-गौरव और सदभिमान को छोड़ कर जहाँ वह एक ओर अपनी ही दुर्बलताओं और दुर्वासनाओं का दास बन जाता है, वहाँ दूसरी ओर दूसरों के सताने, जिनको

अपनी अस्थायी और तुच्छ सफलताओं का उन्माद है, गिड़गिड़ाता है, या अपनी हीनता को अनुभव कर के मानसिक यातना को भोगता है।

दूसरी ओर वह मनुष्य है जो मनुष्यत्व की वास्तविक महत्ता के बाटों से न तो अपने को तोल सकता है न दूसरों को। जैसे कोई सोने की असलियत की उपेक्षाकर के उसमें मिलावट का ही मूल्य लगावे, इसी प्रकार वह आकस्मिक और अस्थायी वैभव के आधार पर ही अपना और दूसरों का मूल्य आंकता है; और अपने अभिमान के सामने दूसरों को तृणवत् समझता है।

मनुष्य मनुष्य का शोषण करता है, मनुष्य मनुष्य की अवहेलना या तिरस्कार करता है, या अपने को दीन-हीन समझता हुआ अनुभव करता है कि वह कुछ नहीं कर सकता—ये सारी दुर्भावनायें वास्तव में एक ही बीमारी के दो रूप हैं। वह बीमारी मनुष्यत्व की स्वभाव-सिद्ध महत्ता का अनुभव न करना ही है।

दोनों दुर्भावनायें मनुष्य की वास्तविक प्रगति, उन्नति और विकास में बाधक हैं।

इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सतत इसका अनुभव करे कि मनुष्यत्व के नाते ईश्वर की सृष्टि में उसका पद अति महान् है। वह आत्म-गौरव को, मानव मात्र के गौरव को अनुभव करे, और इस आत्म-गौरव के सहारे वह एक ओर अपने को अपनी ही दुर्बलताओं से बचावे, और दूसरी ओर अपनी वास्तविक प्रगति के मार्ग में आने वाली बाहर की बड़ी से बड़ी बाधाओं को विश्वास और निष्ठा के साथ कुचल डालने को तैयार रहे। साथ ही दुरभिमान से अपने को बचाता हुआ, मनुष्य-मात्र का संमान करता हुआ, आत्म-प्रगति और आत्म-कल्याण के अनन्त विस्तृत मार्ग की ओर बढ़ता रहे। इन्हीं भावनाओं को श्रुति ने अपने मधुर शब्दों में गाया है:—

तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय।
असतो मा सद् गमय॥

: १७ :

प्रभौ कर्मफलन्यासः

कर्मफल को ईश्वर पर छोड़ना

"ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं...
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" (यजु० ४०।१)

अर्थात्, सारे विश्व में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं।.... कर्म करने पर ईश्वर द्वारा जो भी फल प्राप्त हो उसका तुम उपभोग करो।

मनुष्य कर्म कर के उसके फल के लिए व्यग्र न हो, इसका उपाय यही है कि वह कर्म कर के उसके फल को ईश्वर पर छोड़ दें। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन युक्ति-पुरःसर नीचे के पद्यों में किया गया है:--

लक्ष्यमुद्दिश्य यत्किञ्चित् कर्म प्रारभते जनः।
प्रायेण तत्फलावाप्तावशः कालमीक्षते ॥१॥

मनुष्य किसी लक्ष्य के उद्देश्य से ही कर्म करता है। परन्तु उसके फल की प्राप्ति प्रायः उसके हाथ में नहीं होती और उसके लिए उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

तत्कालं तत्फलस्याप्तिः प्रायेण नहि दृश्यते।
किंचित्कालं प्रतीक्षा हि फलावाप्त्या अपेक्ष्यते ॥२॥

उसके फल की प्राप्ति प्रायेण तत्काल नहीं देखी जाती। फल-प्राप्ति के लिए कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।

प्रतीक्षासमये तस्मिन् व्यग्रता निष्प्रयोजना।
यतस्तस्याः फलप्राप्तौ कारणत्वं न विद्यते ॥३॥

उस प्रतीक्षा के समय में चित्त की व्यग्रता नितरां व्यर्थ है। क्योंकि, फल की प्राप्ति में वह व्यग्रता कुछ भी सहायक नहीं होती।

कर्म कृत्वा ततस्तस्य फलप्राप्तावनुत्सुकः।
प्रसन्नश्च निरुद्वेगः स्वस्थ आसीत पण्डितः ॥४॥

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को कर्म कर के उसके फल की प्राप्ति में उत्सुकता और उद्वेग को छोड़ कर प्रसन्नचित्त और शान्त रहना चाहिए।

प्रभौ कर्मफलन्यासस्तस्मै फलसमर्पणम् ।
शरणागतिरप्येषा भक्तानां परिभाषया ॥५॥

भक्तों की परिभाषा में उक्त मानसिक स्थिति को ही 'कर्म-फल को भगवान पर छोड़ना', या 'कर्मफल को भगवान् के लिए अर्पित कर देना,' अथवा 'भगवान् की शरण में जाना' इस प्रकार कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि युक्ति और भक्ति दोनों की दृष्टि से मनुष्य को कर्म कर के उसके फल के लिए उद्विग्नता को छोड़ कर शान्त और प्रसन्नचित्त ही रहना चाहिए।

: १८ :

नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः

भगवान् में विश्वास

"सः....याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् ।" (यजु० ४०।८)

अर्थात्, हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

मनुष्य को कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करते हुए उसके फल को समस्त विश्व को नियन्त्रण में रखने वाले कारुणिक भगवान् के निर्णय पर ही छोड़ देना चाहिए। किस कर्म में किसी फल के देने की कितनी और कैसी योग्यता है, इसका निर्णय कर्म करने वाला स्वयं नहीं कर सकता।

इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

कर्तव्यं कर्म कुर्वन्तो शतावद्धि पुरुषायुषम् ।
वर्तेरन् मानवाः सर्व इत्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥१॥

मनुष्यों को अपने जीवन-पर्यन्त कर्तव्य कर्मों को करते रहना चाहिए—वेद[1] में कहा गया है।

---

१ तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (यजु० ४०।२)।

समुद्योगपरैर्भाव्यं जीवने मानवैः सदा।
परमुद्योगसीमाया धीमान् ध्यानं न विस्मरेत् ॥२॥

मनुष्यों को जीवन में उद्योग अवश्य करना चाहिए। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि फल के विषय में उद्योग की अपनी सीमा भी होती है। अर्थात्, किसी उद्योग का अभीष्ट फल अवश्य ही होगा, या सदा एक-सा ही फल होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

गर्भागतस्य सर्वस्य स्वीययत्नानपेक्षया।
ते ते भावा नियम्यन्त एतत्कस्य तिरोहितम् ॥३॥

गर्भावस्था में आये हुए प्राणी की अनेक बातों का नियन्त्रण, अपने यत्न के बिना ही, किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है, यह किससे छिपा है?

स्वास्थ्यं बुद्धिस्तथावस्था संपत्तेरथवेतरा।
शरीरस्याकृती रूपं पितरौ च कुलं तथा ॥४॥
सर्वस्यापि जनस्यैतज् जीवनेऽतिप्रभावकृत्।
तथापि सर्व एवात्र विषये विवशा ध्रुवम् ॥५॥

स्वास्थ्य, बुद्धि, संपत्ति, दारिद्र्य, शरीर की आकृति, रूप, माता-पिता और कुल—इन सब का मनुष्य के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। तो भी, जन्म के समय इनके विषय में सब कोई विवश होते हैं।

अभिप्राय यह है कि जन्म के समय मनुष्य के स्वास्थ्य, बुद्धि आदि कैसे हैं, इसमें उसका यत्न कुछ नहीं होता। स्पष्टतः इनका नियन्त्रण किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है। और उस नियन्त्रण को बरबस सब को मानना ही पड़ता है।

एवमुद्योगकालेऽपि तत्फलं प्रत्यनुत्सुकः।
नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः ॥६॥

इसी प्रकार उद्योग करते समय भी मनुष्य को चाहिए कि वह, उसके फल के सम्बन्ध में उत्सुकता और उद्विग्नता को छोड़ कर, सब को नियन्त्रण में रखने वाले विश्वपति भगवान् के विश्वास के सहारे पर ही रहे।

वर्तमानेन संतुष्टस् तथाप्युन्नत्यभीप्सया।
समुदद्योगपरस्तिष्ठेत् फलं न्यस्य परात्मनि ॥७॥

मनुष्य को वर्तमान से सन्तुष्ट रहते हुए भी उन्नति की इच्छा से उद्योग में तत्पर होना चाहिए। साथ ही उसे उद्योग के फल को परमात्मा पर छोड़ कर रहना चाहिए।

तदेतज्जीवनस्याहू रहस्यं परमं बुधाः।
तज्ज्ञात्वा येऽनुवर्तन्ते भवबाधास्तरन्ति ते ॥८॥

विद्वानों के अनुसार जीवन का परम रहस्य यही है। इसको समझ कर जो इसका अनुसरण करते हैं वे सांसारिक यातनाओं को पार कर जाते हैं।

: १६ :

मानवेन प्राप्तकालं विधीयताम्

प्राप्तकाल कर्तव्य

"कस्तद्वेद यदद्भुतम् ।"[1] (ऋग्० १।१७८।१)

अर्थात्, जो अभी होने को है उसको कोई नहीं जानता।

'ऐसा हुआ होता तो ऐसा होता', 'भविष्य मे कदाचित् ऐसा हो' इस प्रकार के संकल्प-विकल्प मनुष्य के कार्य में कितनी बाधा डालते है, यह सब कोई जानते है। कर्मशील व्यक्ति को इस व्यर्थ के संकल्प-विकल्प में न पड़ कर अपना कर्तव्य करना चाहिए, इसी का प्रतिपादन नीचे के पद्य मे किया गया है:—

यदतीतमतीतं तत् संदिग्धं यदनागतम्।
तस्माद् यत्प्राप्तकालं तन् मानवेन विधीयताम् ॥१॥

जो हो चुका वह तो हो ही चुका। जो आने वाला है वह सन्देह-ग्रस्त है। इसलिए मनुष्य को वही काम करना चाहिए जिसका संबन्ध वर्तमान से है।

---

१ तु० अद्भुतम्=अभूतम् (निरुक्ते १।६)।

: २० :

धर्मराज्यस्थितिः स्वर्ग्या

स्वर्गीय धर्मराज्य

"अग्ने नय सुपथा....युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।" (यजु० ४०।१६)

अर्थात्, हे प्रकाशमय भगवन्, हमें छल-कपट के पाप से बचा कर सीधे-सरल सत्य-मार्ग से ले चलिए।

हमारे धार्मिक कृत्यों और प्रतिदिन के लौकिक जीवन में परस्पर कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, ऐसी धारणा प्रायः सर्वत्र फैली हुई है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए यह कितनी घातक है, यह कौन नहीं जानता? उक्त धारणा के दुष्प्रभाव को ही दृष्टि में रख कर नीचे के पद्यों में 'धार्मिक कृत्यों की वास्तविक उपयोगिता मनुष्य के लौकिक जीवन में पवित्रता के लाने में ही है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है:—

देवपूजाविधि लोकाः कर्तव्यत्वेन कुर्वते।
तथैव लौकिकं कर्म कर्तव्यमिति मन्यताम्॥१॥

लोग देवपूजा-सम्बन्धी कृत्यों को कर्तव्य-बुद्धि से करते हैं। देवपूजा से अतिरिक्त, जीविकादि-संबन्धी लौकिक कामों को भी उसी प्रकार कर्तव्य समझ कर ही करना चाहिए।

यावन्त्यपि हि कर्माणि बुद्धया कुर्वन्ति मानवाः।
चारित्र्यस्य विनिर्माणे सामर्थ्यं तेषु विद्यते॥२॥

मनुष्य जिन जिन कामों को भी बुद्धि-पूर्वक करते हैं उन सब में चारित्र्य के निर्माण का सामर्थ्य होता है।

इस दृष्टि से जीविकादि-संबन्धी लौकिक कामों में और धार्मिक कृत्यों में परस्पर कोई भेद नहीं हो सकता। क्योंकि, दोनों में एक सा ही चरित्र के निर्माण का सामर्थ्य है।

ततश्च लौकिकं कर्म विभिन्नं धर्मकृत्यतः।
एतादृशी मतिर्येषां भ्रान्तास्ते नात्र संशयः॥३॥

इसलिए लौकिक कर्म धार्मिक कृत्य से विभिन्न होता है, ऐसा जिनका विचार है उनको निस्सन्देह भ्रान्त समझना चाहिए।

लौकिकान्यपि कर्माणि कुर्वन् धर्मं न विस्मरेत्।
एतावदेव माहात्म्यं धर्मकृत्येषु नो मतम्॥४॥

हमारे मत में धार्मिक कृत्यों का महत्त्व केवल इतने में ही है कि मनुष्य लौकिक कर्मों को करते हुए धर्म को न भूल जाय।

अभिप्राय यह है कि धार्मिक कृत्यों और लौकिक कर्मों का क्षेत्र परस्पर असंबद्ध नहीं है। धार्मिक कृत्यों की वास्तविक महत्ता और उपयोगिता इसी में है कि हमारा लौकिक जीवन पवित्र और धार्मिक हो। इसके बिना धार्मिक कृत्य केवल दम्भ और पाषण्ड का रूप धारण कर लेते हैं। इसी की पुष्टि नीचे के पद्यों में एक दृष्टान्त से की गयी है—

व्यायामं प्रत्यहं कृत्वा लब्ध्वा स्वास्थ्यं निरामयम्।
यथा लौकिककार्याणि साफल्येन प्रकुर्वते॥५॥
एवमेवानुतिष्ठद्भिर्धर्मकृत्यानि मानवैः।
लौकिकं यत्स्वकं कर्म धर्मबुद्ध्या विधीयताम्॥६॥

जैसे व्यायाम करने वाले प्रतिदिन व्यायाम इसीलिए करते हैं कि उससे शारीरिक आरोग्य तथा स्वास्थ्य का लाभ कर के अपने लौकिक कामों को सफलतापूर्वक कर सकें, इसी प्रकार धार्मिक कृत्यों को करने वाले लोगों को चाहिए कि वे अपने लौकिक कामों को धर्म-बुद्धि से ही करें।

लौकिकान्यपि कर्माणि यदा कर्तव्यबुद्धितः।
रुच्या चोत्साहसंपत्त्या विधास्यन्ति जनास्तदा॥७॥
धर्मराज्यस्थितिः स्वर्ग्या शान्तिर्मूर्त्तिमती ध्रुवा।
मुनिभिर्बहुधा गीता लोकेऽस्मिन् प्रचरिष्यति॥८॥

जब मनुष्य अपने लौकिक कामों को भी कर्तव्य-बुद्धि से, रुचि से और उत्साह से करने लगेंगे तभी पृथ्वी पर स्वर्गीय धर्मराज्य स्थापित होगा और मुनियों द्वारा अनेक प्रकार से उपवर्णित स्थायी शान्ति मूर्त्तिमती हो कर विचरेगी।

: २१ :

पितापुत्रादिसंबन्धे कर्तव्यबुद्धिः

पितापुत्रादि के संबन्ध में कर्तव्यबुद्धि

"उतैषां पितोत पुत्र एषाम्...एको ह देवो...
स उ गर्भे अन्तः" (अथर्व० १०।८।२८)

अर्थात्, मनुष्यों में पिता-पुत्र आदि संबन्धों का नियामक वही एक देव है.....वह गर्भ में भी नियन्ता के रूप में रहता है।

पितापुत्रादिसंबन्धो नैव स्वेच्छाकृतो मतः।
परात्मना कृतस्तस्मात् तदभिप्रायमूलकः ॥१॥
तदभिप्रायसिद्ध्यर्थमस्मज्जन्मादिकं ततः।
कर्तव्यमिति बुद्ध्यैव कर्म कुर्वीत मानवः ॥२॥

पिता-पुत्र आदि का सम्बन्ध किसी की स्वेच्छा से नहीं होता। उसे परमात्मा ही करते हैं। अतएव परमात्मा के अभिप्राय को ही उसका मूल मानना चाहिए।

हम सब का जन्मादि भी ईश्वर के अभिप्राय की सिद्धि के लिए ही हुआ है, ऐसा मानना चाहिए। ऐसी अवस्था में मनुष्य को कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित हो कर ही कर्म करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जब पिता-पुत्रादि का सम्बन्ध ही (जिसके आधार पर प्रायः हम अपने काम करते हैं) ईश्वर का किया हुआ है, तब हमारे कर्मों का आधार भी कर्तव्य-बुद्धि अथवा परमप्रभु भगवान् का प्रसाद ही रह जाता है।

: २२ :

बुद्धिभावनयोर्द्वन्द्वम्

बुद्धि और भावना का संघर्ष

"श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्। श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयति।" (ऐतरेयब्राह्मण ७।१०)

अर्थात्, श्रद्धा (भावना-मूलक) और सत्य (बुद्धि-मूलक) की उत्तम जोड़ी है। श्रद्धा और सत्य की जोड़ी से मनुष्य दिव्य लोकों को प्राप्त कर लेता है।

भावना और बुद्धि के विरोध से होने वाली हानि और उनके समन्वय से होने वाले लाभ का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है:--

बुद्धिभावनयोर्द्वन्द्वं जीवने दृश्यतेऽनिशम्।
खिन्नतानुभवस्तस्मात् प्रायः कस्य न जायते ॥१॥

जीवन में बुद्धि (intellcet) और भावना (sentiment) का पारस्परिक संघर्ष बराबर देखने में आता है। उस संघर्ष के कारण ऐसा कौन होगा जिसको खेद का अनुभव प्रायः न होता हो?

नीचे बुद्धि और भावना के स्वरूप को दिखाते हुए उनके समन्वय के प्रकार और आवश्यकता को बतलाते हैं--

भावनाया गतिर्धर्मो बुद्धेर्दर्शनमुच्यते।
पङ्ग्वन्धयोः समस्तस्मात्तयोः संबन्ध इष्यते ॥२॥

भावना का धर्म गति है, और बुद्धि का धर्म दिखाना है। इसलिए पंगु और अंध के सम्बन्ध के समान ही उनका संबंध माना जाता है।

भावनाप्रसरे दुःखं बुद्धौ निष्क्रियता भवेत्।
समन्वयस्तयोस्तस्मादेष्टव्यो भूतिमिच्छता ॥३॥

भावना के आवेग में दुःख और बुद्धि में निष्क्रियता होती है। इसलिए अभ्युदयाकांक्षी को उन दोनों के समन्वय के लिए यत्न करना चाहिए।

भावना प्रेरणां दद्याद् बुद्धिर्मार्गं प्रदर्शयेत्।
समन्वये तयोरेवं जनः कल्याणमश्नुते ॥४॥

॥ इति रश्मिमालायां **कर्मदर्शनं** नाम चतुर्थो रश्मिः ॥

भावना और बुद्धि में समन्वय के हो जाने पर, भावना से प्रेरणा प्राप्त होती है और बुद्धि कर्तव्य-मार्ग को दिखाती है। इस प्रकार उनके समन्वय से मनुष्य कल्याण को प्राप्त होता है।

पञ्चमो रश्मिः

भाव-संशुद्धिः

अथवा

आत्म-परीक्षणम्

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । (यजु० ३४।१)
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् । (कठोपनिषद् २।१।१)
अप नः शोशुचदघम् । (ऋ० १।९७।१)
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ (ऋ० ५।८२।५)

●

पञ्चम रश्मि

भाव-संशुद्धि

अथवा

आत्म-परीक्षण

मेरे मन के संकल्प कल्याणमय हों (यजु० ३४।१)
कोई धीर बुद्धिमान् मनुष्य ही आत्म-समीक्षण में प्रवृत्त होता है। (कठोपनिषद् २।१।१)
हमारा पाप विनष्ट हो जाय। (ऋग्० १।९७।१)
सर्वप्रेरक सवितृ-देव ! समस्त दुर्गुणों को हमसे दूर कीजिए, और जो कल्याणप्रद है उसे हमें प्राप्त कराइए। (ऋग्० ५।८२।५)

: २३ :

क्षणमन्तर्मुखं कृत्वा

आत्मपरीक्षण

"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्" (कठोपनिषद् २।१।१)।

अर्थात्, कोई धीर बुद्धिमान् मनुष्य ही आत्म-समीक्षण में प्रवृत्त होता है।

मनुष्य चाहता है कि दूसरे लोग उसको जानें और उसका आदर करें, पर यह विचित्र बात है कि वह स्वयं अपने को नहीं समझता; और प्रायः आत्म-सम्मान की भावना भी उसमें नहीं होती। इसी विचित्र स्थिति को प्रश्नद्वारा नीचे स्पष्ट किया गया है:—

लोको मामभिजानीयान् सादरं चावलोकयेत्।
इतियत्नपरो नित्यमितिचिन्ताकुलो भवान्?॥१॥
परमन्तर्मुखं कृत्वा क्षणं भ्रान्तिनिगद्यताम्।
आत्मानमभिजानासि? नात्मानमवमन्यसे?॥२॥

'संसार मुझे जाने और मुझे आदर की दृष्टि से देखे' क्या आप सदा इसी के यत्न में नहीं लगे रहते हैं? क्या आप सदा इसी चिन्ता से आकुल नहीं रहते?

पर भाई! ज़रा अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके यह तो कहो कि क्या तुम स्वयं अपने को जानते हो? क्या तुम ही अपना अपमान नहीं करते?

: २३ :

क्षणमन्तर्मुखं कृत्वा

आत्मपरीक्षण

"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्" (कठोपनिषद् २।१।१)।

अर्थात्, कोई धीर बुद्धिमान् मनुष्य ही आत्म-समीक्षण में प्रवृत्त होता है।

मनुष्य चाहता है कि दूसरे लोग उसको जानें और उसका आदर करें, पर यह विचित्र बात है कि वह स्वयं अपने को नहीं समझता; और प्रायः आत्म-संमान की भावना भी उसमें नहीं होती। इसी विचित्र स्थिति को प्रश्नद्वारा नीचे स्पष्ट किया गया है:—

लोको मामभिजानीयात् सादरं चावलोकयेत्।
इतियत्नपरो नित्यमितिचिन्ताकुलो भवान्?॥१॥
परमन्तर्मुखं कृत्वा क्षणं भ्रातर्निगद्यताम्।
आत्मानमभिजानासि? नात्मानमवमन्यसे?॥२॥

'संसार मुझे जाने और मुझे आदर की दृष्टि से देखे' क्या आप सदा इसी के यत्न में नहीं लगे रहते हैं? क्या आप सदा इसी चिन्ता से आकुल नहीं रहते?

पर भाई! ज़रा अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके यह तो कहो कि क्या तुम स्वयं अपने को जानते हो? क्या तुम ही अपना अपमान नहीं करते?

: २४ :

उपेक्ष्यात्महितं तथ्यम्

आत्महित की उपेक्षा

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥" (यजु० १९।७७)

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने पदार्थों के वास्तविक (=सत्य) और अवास्तविक (=अनृत) स्वरूपों को देख कर पृथक् पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता वास्तविक स्वरूप में ही है, और अश्रद्धा की अवास्तविक स्वरूप में।

मनुष्य अपने वास्तविक तथा अवास्तविक स्वरूप को समझे और दूसरों की वाह-वाही के लिए अपने सच्चे हित की उपेक्षा न करे—इसी बात का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा।
पदार्थानां, तयोर्मध्ये प्रायेण महदन्तरम्॥१॥

पदार्थों के वास्तविक और अवास्तविक—इस प्रकार दो तरह के रूप देखे जाते हैं। प्रायेण उन दोनों में बड़ा अन्तर होता है।

आपाततस्तु यद्रूपं पदार्थस्पर्शि नैव तत्।
वस्तुतो वर्तमानं तत् पदार्थानां स्वभावजम्॥२॥

जो आपाततः या अवास्तविक रूप होता है वह पदार्थ को स्पर्श नहीं करता; अर्थात् पदार्थ की वास्तविकता से दूर ही रहता है। जो वास्तविक रूप होता है वह पदार्थ का स्वाभाविक होता है।

इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तारागणो नभोमध्ये स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः।
नानाविधः समायाति दृष्टिगोचरतां सदा॥३॥
तत्र यद् वास्तवं रूपं तस्यास्तस्याः पृथक्त्वतः।
तारायाः, सुतरां तत्तु भिन्नं यद्दृश्यते ततः॥४॥

आकाश में सदा स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के तारे दृष्टि-गोचर होते हैं। उन उन तारों का जो जो अपना वास्तविक रूप है वह दृष्टि में आने वाले रूप से बहुत कुछ भिन्न है।

ज्योतिष-शास्त्र के विशेषज्ञों का कहना है कि तारे वास्तव में सूर्य हैं और उनमें से अनेकानेक हमारे सूर्य से भी आकार में कहीं बड़े हैं। ऐसी दशा में उनके आपाततः दृष्टि-गोचर होने वाले रूपों में और वास्तविक रूपों में कितना महान् अन्तर है, यह कहने की बात नहीं है।

एवमेव मनुष्याणां वृत्तस्यापि द्विधा कथा।
वस्तुतोऽवस्तुतश्चेति लोके कस्य तिरोहिता ॥५॥

इसी प्रकार संसार में यह बात किससे छिपी है कि मनुष्यों का चरित्र या स्वरूप भी वास्तविक और अवास्तविक रूप से दो तरह का होता है।

स्पष्टं नाहं यथा लोकाः प्रायशो मां विजानते।
अस्पृष्टं तद्विचारैस्तु स्वरूपं वस्तुतो मम[1] ॥६॥

यह स्पष्ट है कि मैं वैसा नहीं हूँ जैसा प्रायेण संसार के लोग मुझे समझते हैं। मेरा वास्तविक स्वरूप तो उनके विचारों से अस्पृष्ट ही रहता है।

उपेक्ष्यात्महितं तथ्यं तथापि बहुधा जनाः।
लोकदृष्ट्यात्मनो रूपं यत्तदर्थं कृतादराः ॥७॥

तो भी बहुत करके लोग अपने वास्तविक हित की उपेक्षा करके दूसरों की दृष्टि में अपना जो अवास्तविक रूप होता है उसी की ज्यादा परवा करते हैं।

अभिप्राय यह है कि अधिकतर मनुष्य अपने वास्तविक चरित्र को उठाने वाली आत्म-कल्याण की बातों की उपेक्षा करते हैं, और दूसरों की वाह-वाही लेने के लिए दिखावट की बातों पर ही ध्यान देते हैं और अपने बाह्य अवास्तविक रूप के विषय में ही अपने सारे प्रयत्न को लगा देते हैं।

यथैव कश्चिदात्मानं विक्रीय परसेवया।
कालं यापयते तद्वद् एतेऽपि परसेवकाः ॥८॥

जो लोग दूसरों की वाह-वाही के लिए ही बराबर सचेष्ट रहते हैं वे दूसरों के उसी प्रकार सेवक हैं जैसे कोई अपने को दूसरे के हाथ बेचकर उसकी सेवा में ही अपने समय को व्यतीत करता है।

---

१ मनुस्मृति में इसीलिए कहा है—

"संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ (२।१६२)

अर्थात्, विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि वह (मिथ्या) संमान से विष की तरह दूर रहे, और अवमान को अमृत के समान चाहे।

: २५ :

दरिद्राति स्वकर्तव्ये ततः कष्टतरं नु किम् ?

कर्त्तव्य की उपेक्षा

"अधेन्वा चरति माययैष
वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।" (ऋग्० १०।७१।५)

अर्थात्, जो विद्या को पढ़ कर तदनुकूल आचरण नहीं करता, उसके लिए वह विद्या उस नक़ली गौ के समान है जो कभी दूध नहीं दे सकती।

मनुष्य के लिए विद्या, बुद्धि, अध्ययन, धर्माचरण आदि की उपयोगिता वास्तव में उसके चरित्र की पुष्टि में ही है—इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

मन्ये विद्यावतां श्रेष्ठो धीमतां धुरि संस्थितः।
वेदाद्यनेकशास्त्राणां नित्यं स्वाध्यायतत्परः ॥१॥
शास्त्रीयकर्मकाण्डस्यानुष्ठाने वा धृतव्रतः।
यद्वेष्टदेवताभक्तौ नियतं दत्तमानसः ॥२॥

माना कि आप विद्वानों में श्रेष्ठ और बुद्धिमानों में अग्रणी है, वेदादि अनक शास्त्रों का नित्य स्वाध्याय करने वाले हैं, यद्वा शास्त्रीय कर्मकाण्ड अग्निहोत्रादि के विधिवत् करने का आपने व्रत लिया हुआ है, अथवा अपने इष्ट देवता की भक्ति में आपका मन सदा लगा रहता है। तो भी—

एवमध्यात्मसंपत्त्या संपन्नोऽपि भवान् यदि।
दरिद्राति स्वकर्तव्ये ततः कष्टतरं नु किम् ?॥३॥

इस प्रकार आध्यात्मिक संपत्ति से संपन्न होने पर भी, यदि आप अपने कर्तव्य के पालन में दरिद्र या ढीले हैं, तो इससे अधिक कष्ट की बात और क्या हो सकती है ?

तथैवोपस्थिते भ्रातररातीनामुपद्रवे।
बाह्यानामान्तराणां वा मनःसंतापकारिणाम् ॥४॥
उपशान्तावशक्तश्चेदापन्न इव वर्तसे।
विद्यां बुद्धिं श्रुतं भक्तिं धिग् धर्माचरणं च ते ॥५॥

इसी प्रकार भाई ! मन को सन्ताप देने वाले बाह्य अथवा आभ्यन्तर (काम, क्रोध आदि) शत्रुओं के उपद्रव के आने पर उसके दबाने में अशक्त होकर तुम यदि आपत्ति-ग्रस्त घबड़ाये हुए मनुष्य की तरह बरताव करते हो, तो तुम्हारी विद्या को, बुद्धि को, शास्त्राध्ययन को, देव-भक्ति को और धर्माचरण को भी धिक्कार है।

: २६ :

वस्तुतस्तद्धनं मन्ये

वास्तविक धन

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" (कठोपनिषद् १।१।२७)

अर्थात्, मनुष्य की तृप्ति लौकिक धन से नहीं हो सकती।
वास्तविक धन क्या है ? इसका उत्तर नीचे के पद्य में दिया गया है:—

यत्कर्मकरणेनान्तःसन्तोषं लभते नरः।
वस्तुतस्तद् धनं मन्ये न धनं धनमुच्यते ॥१॥

जिस काम के करने से मनुष्य के अन्तःकरण को सन्तोष होता है मैं वास्तविक धन उसी को मानता हूँ। लौकिक धन को धन नहीं कहा जाता है।

: २७ :

भावमाहात्म्यम्

भावों की महिमा

"पुलुकामो हि मर्त्यः" (ऋग्० १।१७९।५)।

अर्थात्, मनुष्य स्वभाव से ही कामना-प्रधान प्राणी है।

मनुष्य स्वभावतः कामना-प्रधान प्राणी है। उसकी कामनाओं पर ही उसके चरित्र का निर्माण होता है। कामनाओं और भावों में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए भाव-संशुद्धि की आवश्यकता है। इसी दृष्टि से नीचे के पद्यों में भावों की महिमा को दिखलाया गया है:—

सर्वेऽपि मानवा लोके नानायत्नपराः सदा।
धावन्त इव कार्येषु व्यग्रा आयान्ति दृक्पथम् ॥१॥

संसार में सारे मनुष्य नाना यत्नों में लगे हुए, मानो इधर-उधर दौड़ते हुए, सदा कामों में व्यग्र दिखाई देते हैं।

तदेतदखिलं वृत्तं तत्तद्भावनिबन्धनम्।
व्यष्ट्या, समष्टिदृष्ट्या तु विष्णोर्लीलैव नो मतम् ॥२॥

व्यष्टि-दृष्टि से इस सारी स्थिति के मूल में मनुष्यों के विभिन्न मनो-भाव ही हैं। समष्टि-दृष्टि से हम इसको समस्त विश्व में व्यापक भगवान् की लीला ही कह सकते हैं।

: २८ :

भाव-संशुद्धिः

भाव-संशुद्धि

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च।" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।१)

अर्थात्, ब्रह्म के दो ही रूप हैं, मूर्त्त और अमूर्त्त।

नीचे के पद्यों में मनुष्य के लिए भाव-संशुद्धि की आवश्यकता को दिखलाया गया है:—

मूर्त्तं चामूर्त्तमित्येवं जगदेतद् द्विधा मतम्।
भावोऽमूर्त्त, पुनर्मूर्त्तं भावमूलं हि मन्यते ॥१॥

मूर्त और अमूर्त्त—इस प्रकार यह जगत् दो प्रकार का माना जाता है। इनमें से भाव अमूर्त है, और मूर्त को भाव-मूलक माना जाता है।

'मूर्त भाव-मूलक हैं'—इसको नीचे सिद्ध करते हैं—

यच्चापि लौकिकं वस्तु संस्था आचारपद्धतिः।
भावैः संप्रेरितस्यैव मानवस्येह सा कृतिः ॥२॥

जो भी मनुष्य-निर्मित वस्तु, संस्थायें अथवा आचार-पद्धति लोक में दृष्टि-गोचर होती हैं, वे सब भावों से प्रेरित मनुष्य की ही कृति हैं।

कालभेदेन भिन्नानां देशभेदेन वा पुनः।
देवतानामयं भेदो मन्यते भावमूलकः ॥३॥
संस्कृतेस्तारतम्यं य आदर्शा दर्शयन्ति नः।
त एव देवतारूपा दृश्यन्ते भावमूलकाः ॥४॥

काल-भेद से अथवा देश-भेद से विभिन्न देवताओं का जो भेद पाया जाता है उसे भाव-मूलक ही माना जाता है। क्योंकि, जो विभिन्न आदर्श हमें संस्कृतियों के तारतम्य को बतलाते हैं वे ही भाव-मूलक आदर्श विभिन्न देवताओं के रूप में भी देखने में आते हैं।

अभिप्राय यह है कि काल-भेद से अथवा देश-भेद से देवताओं में जो भेद पाया जाता है उसका कारण काल-भेद से अथवा देश-भेद से पायी जाने वाली संस्कृतियों के आदर्शों का भेद ही हो सकता है। इसी लिए क्रूर असभ्य जातियों के देवता

क्रूरता-प्रधान, और सभ्य, सुसंस्कृत जातियों के सात्विक और दयालु स्वभाव के होते हैं।

संस्थितिर्देवतानां चेत् स्वयं भावनिबन्धना ।
नूनं तन्मूर्त्तयो लोके भावाभिव्यञ्जिकाः स्मृताः ॥५॥

जब कि देवताओं की ही स्थिति भाव-मूलक है, तब लोक में प्रचलित उनकी मूर्त्तियों को तो निश्चय ही भावों को अभिव्यक्त करने वाली मानना चाहिए।

यस्मादस्थिरभावानां मूर्त्तीकरणमिष्यते ।
स्थैर्यसंपादनार्थाय मूर्त्तिपूजेति या मता ॥६॥

क्योंकि जिसको मूर्त्ति-पूजा कहते हैं उसमें मनुष्य के अस्थिर भावों को स्थिरता देने के लिए मूर्तरूप देने का ही अभिप्राय होता है।

यदीशस्य जगत्स्रष्टुः सृष्टिरीक्षणपूर्विका ॥
तदा भावमयं सर्वमस्मिन्नर्थे न संशयः ॥७॥

जगत् को उत्पन्न करने वाले परमात्मा के ईक्षण से ही यह सृष्टि हुई है, यदि यह सिद्धान्त ठीक है, तब तो—सब कुछ भावमय या भाव-मूलक है—इस विषय में कोई संशय नहीं उठ सकता।

उपनिषदों में कहा गया है[1] कि जगत् की सृष्टि से पहले परमेश्वर ने 'सृष्टि को मैं करूँ' ऐसा ईक्षण किया और उससे ही सृष्टि हो गयी। यदि ऐसा है तो, सब कुछ भाव-मूलक है, इसमें संशय नहीं हो सकता।

तस्मादुन्नतिकामेन मानवेनेह जन्मनि ।
आत्मनो भावसंशुद्धयै सर्वदैव प्रयत्यताम् ॥८॥

इसलिए इस जन्म में जो मनुष्य उन्नति करना चाहता है उसको अपने भावों की शुद्धि के लिए बराबर यत्नशील होना चाहिए।

---

१ तु० "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।"
(ऐतरेयोपनिष १ १ १-२)।

: २९ :

यात्रेति जीवनं प्राहुः

जीवन-यात्रा

"सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः" (अथर्व० ३।३०।१)

अर्थात्, मनुष्यों को परस्पर किसी प्रकार के द्वेष से रहित मित्रता और प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।

यात्रेति जीवनं प्राहुर्यात्री वर्त्ते न संशयः।
प्रीत्यैव व्यवहर्तव्यं यात्रिभिः, किं विरोधतः? ॥१॥

जीवन को एक यात्रा कहा जाता है। निस्सन्देह मैं उस यात्रा का एक यात्री हूँ। यात्रियों को परस्पर प्रीति का ही व्यवहार करना चाहिए। विरोध से क्या लाभ?

विरोधिनां विरोधेन शान्तिभङ्गो भवेद् ध्रुवम्।
यदुद्दिश्य विरोधः स्याच् छान्तेर्मूल्यं ततोऽधिकम् ॥२॥

विरोधियों के विरोध से निश्चय ही शान्ति का भंग होता है। साथ ही, जिस वस्तु के कारण विरोध होता है, शान्ति का मूल्य उससे कहीं अधिक होता है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को मनुष्य के साथ प्रेम से ही रहना चाहिए। इससे जीवन की यात्रा में सहायता ही मिलेगी। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि शान्ति का मूल्य मनुष्य के विकास में अत्यधिक है। परस्पर-विरोध से उसका भंग न करना चाहिए।

: ३० :

अभिमानेन मूढोऽयमात्मानं बहु मन्यते

मिथ्या अभिमान

मिथ्या अभिमान की असारता का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है—

वायुना स्फातिमापन्नो राबरः कन्दको यथा।
अभिमानेन मूढोऽयमात्मानं बहु मन्यते ॥१॥

जैसे रबर की गेंद वायु भरने से फूल जाती है, इसी प्रकार मूढ़ मनुष्य अभिमान के कारण अपने को बड़ा मानता है।

क्षणेन निर्गते वायौ संकोचं याति कन्दुकः।
तथा भग्नेऽभिमानेऽसौ याति निस्सत्त्वतां क्षणात् ॥२॥

वायु के निकल जाने पर गेंद तत्काल संकोच को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार अभिमान के भंग हो जाने पर तत्क्षण अभिमानी मनुष्य सत्त्वहीन हो जाता है।

तस्मान्मनीषिणः शान्ता असक्ता बाह्यवस्तुषु।
आत्मन्येवात्मना तुष्टाः प्रसन्ना आसते सदा ॥३॥

इसलिए जो शान्त-चित्त मनीषी होते हैं वे बाह्य ऐश्वर्यादि-संबंधी वस्तुओं में आसक्त न होकर स्वयं अपने में ही संतुष्ट होने के कारण सदैव प्रसन्न-चित्त रहते हैं।

: ३१ :

नूनं ते करुणापात्रम्

मानमदोद्धत मनुष्य

आशापाशशतैर्बद्धा उच्चावचपदस्थिताः।
सुखदुःखभ्रमिभ्रान्ताः प्रायेण भुवि मानवाः ॥१॥

संसार में प्रायः सब मनुष्य, चाहे वे ऊँचे पदों पर स्थित हों चाहे छोटे पदों पर, आशा के सकड़ों पाशों से बँधे हुए और सुख-दुःख के भँवर में चक्कर खाते हुए देखे जाते हैं।

नूनं ते करुणापात्रमपि मानमदोद्धताः।
प्राज्ञस्तैर्वर्त्तयेत्तस्माद् भ्रातृभावेन सर्वदा ॥२॥

वे, मान और मद से उद्धत होने पर भी, निश्चय ही करुणा के पात्र हैं। इसलिए समझदार मनुष्य को उनके साथ सदा भ्रातृ-भाव से ही बरतना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि बुद्धिमान् मनुष्य की दृष्टि में सांसारिक मनुष्यों की दशा, वे बड़े या छोटे पद पर स्थित हों और मान-मद से उद्धत हों तो भी, दयनीय ही प्रतीत होती है, क्योंकि वह उनको आशा के पाशों से बद्ध और सुख-दुःख के भँवर में पड़ा हुआ अनुभव करता है। इसीलिए वह उनके साथ भ्रातृभाव से ही बरतना चाहता है।

: ३२ :

विनय आत्मसंमानश्च

आत्म-संमान और विनय

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च विनयेन निवार्यताम्।
आशावादेन नैराश्यमात्मसंमाननेन च ॥१॥

बुद्धिमान् मनुष्य को दम्भ, दर्प और अभिमान का वारण विनय से, और नैराश्य का वारण आशावाद से तथा आत्मसंमान की भावना से करना चाहिए।

लोकं तृणाय मन्यन्ते येऽभिमानेन हेतुना।
नूनं ते करुणापात्रं मन्दा मोहवशं गताः ॥२॥

जो अभिमान के कारण दूसरों को तृण के समान तुच्छ समझते हैं, वे निश्चय ही करुणा के पात्र हैं, क्योंकि मोह के कारण वे मन्द-प्रज्ञ वास्तविकता को नहीं समझ सकते।

विनयेन विना चीर्णमभिमानेन संयुतम्।
महच्चापि तपो व्यर्थमित्येतदवधार्यताम् ॥३॥

यह समझ लेना चाहिए कि विनय के बिना और अभिमान के साथ किया हुआ बड़ा भी तप व्यर्थ ही होता है।

: ३३ :

मानसी पुष्पवाटिका

मनकी फुलवाड़ी

"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" (यजु० ३४।१)

अर्थात्, मेरे मन के संकल्प कल्याणमय हों।

आत्म-विकास के मार्ग पर चलने वाला मनुष्य विशुद्ध भावनाओं से युक्त अपने मन को ही अपनी संपत्ति समझता है। इसलिए वह अपने मन की पवित्रता को वैसा ही आवश्यक समझता है, जैसे कोई अपनी पुष्पवाटिका को साफ़-सुथरा और हर प्रकार से रम्य और शोभनीय रखना चाहता है। इसी का वर्णन मानसी पुष्पवाटिका के रूप में नीचे के पद्यों में किया गया है:--

उत्तुङ्गादर्शवृक्षाणामावल्या परितो वृता।
सदाशयसरोभिश्च सद्भावकुसुमैश्चिता ॥१॥
उद्वेगोपद्रवैः शून्या निरस्ताशेषकल्मषा।
प्रसन्नतापरागैश्च रञ्जिताखिलभूतला ॥२॥
कल्याणकामनाकान्त्या कमनीया चतुर्दिशम्।
स्वच्छा स्वच्छतलादर्शप्रख्या शोभातिशायिनी ॥३॥
सूक्तिपक्षिसमूहानामारावैरुपकूजिता।
शान्तेर्निकेतनं मे स्यात् मानसी पुष्पवाटिका ॥४॥

॥ इति रश्मिमालायां **भावसंशुद्धिर् (आत्मपरीक्षणं वा)** नाम पञ्चमो रश्मिः ॥

उत्कृष्ट आदर्श रूपी ऊँचे वृक्षों की आवलि
से चारों ओर घिरी हुई,
सदाशयरूपी सरोवरों से तथा
सद्भावरूपी कुसुमों से व्याप्त,
उद्वेगरूपी उपद्रवों से शून्य, और
सब प्रकार के पाप रूपी मैल से रहित,
प्रसन्नतारूपी परागों से जिसकी सारी धरती
रञ्जित है,
कल्याण-कामना-रूपी कान्ति से

चारों दिशाओं में कमनीय,
स्वच्छ-तल दर्पण के समान स्वच्छ,
अत्यधिक शोभा से युक्त;
सूक्तिरूपी पक्षिसमूह के
शब्दों से उपकूजित,
मेरे मन की ऐसी कुलवाड़ी शान्ति का निकेतन हो।

षष्ठो रश्मिः

मनः-प्रसादः

विश्वदानीं सुमनसः स्याम । (ऋग्० ६ । ५२।५)
अदितिः पात्वंहसः सदावृधा । (ऋग्० ८ । १८ । ६)
पश्य देवस्य काव्यम् । (साम० पू० ४ । ४ । ३)

षष्ठ रश्मि

मनः-प्रसाद

हम सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहें । (ऋग्० ६ । ५२।५)

सदा विकासोन्मुखी प्रकृति-देवी हानि पहुँचाने वाली त्रुटियों से हमें बचाये । (ऋग्० ८ । १८ । ६)

तुम प्रकृति-देवी के सौन्दर्य को जो मूर्त-रूप में भगवान् का काव्य है देखो और उससे प्रसन्नता को प्राप्त करो ।

(साम० पू० ४ । ४ । ३)

: ३४ :

येयं प्रसादनी शक्तिः

प्रसादनी शक्ति

"यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्" (यजु० १६।४)

अर्थात्, हमारी जीवनचर्या ऐसी हो जिससे यह सारा जगत् हमको व्याधियों से बचा कर प्रसन्नता देने वाला हो।

भगवान् की प्रसादनी शक्ति सारे विश्व में व्याप्त है। उसको हम अनुभव कर सकें, यही नीचे के पद्यों का अभिप्राय है—

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता।
येयं प्रसादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता ॥१॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावलौ।
सहजस्नेहमूर्त्तीनां साधूनामाननेषु वा ॥२॥
पित्रोः प्रेमलतापुष्पीभूते रम्ये च शैशवे।
सेयमाविर्भवेत् शश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे ॥३॥

लोकोत्तर दिव्य माधुर्य से समन्वित,
जो प्रसादनी शक्ति
सृष्टि में सर्वत्र—
सूर्य में, चन्द्रमा में, जल में, वायु में,
प्रफुल्ल कुसुमावलि में,
अथवा, सहज स्नेह के मूर्त्तिरूप
साधुओं के मुखमण्डलों पर,
यद्वा, माता-पिता की प्रेमलता के
पुष्प-रूप सुन्दर शैशव में—
संस्थित है, वह आविर्भूत होकर
सर्वदा मेरे मन में वास करे!

: ३५ :

येयं शान्तिकला दिव्या

दिव्य शान्ति

"सा मे शान्तिरेधि" (यजु० ३६ । १७)

अर्थात्, जो शान्ति सर्वत्र विश्व में फैली हुई है वह मुझे प्राप्त हो।

येयं शान्तिकला दिव्या लोकानां शान्तिदायिनी।
चन्द्रेऽपि चारुतां धत्ते सा मे नित्यं प्रकाशताम् ॥१॥

जो दिव्य शान्ति-कला
लोक-लोकान्तरों को शान्ति देती है
और चन्द्रमा में भी हृदयाह्लादिनी
मधुरिमा को स्थापित करती है
वह मेरे लिए सदैव प्रकाशित हो!

: ३६ :

सदानन्दो वसाम्यहम् !

प्रकृति-माता की गोद में !

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
.....तत्र माममृतं कृधि...।।" (ऋग्०९।११३।११)

अर्थात्, भगवन् ! मुझे सदा आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मनःस्थिति में रखिए।

प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे क्रीडन्ननारतम् ।
लालितः पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम् ।।१।।
स्नेहार्द्रं नित्यसंस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम् ।
दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम् ।।२।।

प्रकृति-माता की गोद में
सदा क्रीड़ा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !
उसके स्नेह से आर्द्र, नित्य रहने वाले,
अद्भुत माधुर्य को देखकर,
मानों अमृत को पीकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

: ३७ :

अरण्येषु मृगाः केन ?

हृदयोल्लास

"ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति" (ऋग्० ४।२३।८)

अर्थात्, प्राकृतिक नियमों का अनुसरण मनुष्य के हृदय की मलिनता और अनुत्साह को दूर करता है।

मनुष्येण विना कश्चिदन्यः प्राणी न विद्यते।
यस्य दृष्टावियं सृष्टिरुल्लासाय न जायते ॥१॥

मनुष्य को छोड़कर कोई दूसरा प्राणी संसार में ऐसा नहीं है जिसकी दृष्टि में यह सृष्टि उल्लास और प्रसन्नता को देने वाली न हो।

पक्षिणः पशवो वापि मनुष्यैर्न वशीकृताः।
क्रीडन्त इव दृश्यन्ते सृष्टेर्दृश्यैरनेकशः ॥२॥

मनुष्य के वश में न आये हुए पक्षी और पशु भी सृष्टि के विभिन्न दृश्यों से मानों खेलते हुए देखे जाते हैं।

स्वागतं ननु सोत्कण्ठाः कुर्वन्तोऽहर्मुखस्य ते।
प्रातरुत्थाय कूजन्तः पक्षिणः केन न श्रुताः ? ॥३॥

प्रातः उठकर कोमल मधुर शब्द करते हुए, मानो उत्कण्ठा के साथ प्रभात का स्वागत करते हुए, पक्षियों को किसने नहीं सुना है ?

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य धावन्त उल्लासेनावशा इव।
अरण्येषु मृगाः केन न दृष्टा मोदनिर्भराः ? ॥४॥

हर्ष और आनन्द से मानो विवश होकर, जंगलों में उछल-उछलकर दौड़ते हुए, आनन्द से विभोर मृगों को किसने नहीं देखा है ?

प्राणिनां बुद्धिजीवित्वात् तिष्ठतां मूर्ध्नि सर्वथा।
दुर्दशेयं मनुष्याणां कुत एतद्विचिन्त्यते ॥५॥

बुद्धिजीवी होने के कारण मनुष्यों का स्थान सर्वथा सब प्राणियों में ऊँचा है। फिर भी मनुष्यों की यह दुर्दशा क्यों है ? यह हम को विचार करना है।

प्रकृत्या सह संपर्कं त्यक्त्वा स्वास्थ्यैककारणम्।
इन्द्रियार्थेषु लोलानां मनुष्याणामियं गतिः ॥६॥

ऊपर के प्रश्न का उत्तर यही है कि आरोग्य और प्रसन्नता का मुख्य कारण है--प्रकृति के साथ संपर्क अथवा प्राकृतिक जीवन-चर्या। इन्द्रियों के विषय में आसक्त होकर मनुष्यों ने उस संपर्क को छोड़ दिया है। उनकी वर्तमान निराशामय स्थिति का, जिसमें उन्हें सृष्टि के दृश्यों में उल्लास नहीं प्रतीत होता, यही कारण है।

: ३८ :

जीवन्नेव नरो नूनं सुखं स्वर्ग्यं समश्नुते

जीवन में स्वर्गीय सुख

"देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्" (ऋग्० १।८९।२)

अर्थात्, हम देवताओं के सख्य को प्राप्त करें!

अग्नि, वायु, सूर्य आदि के रूप में सृष्टि को चलाने वाली प्राकृतिक शक्तियों को 'देवता' और प्राकृतिक जीवन को ही 'देव-सख्य' अथवा 'यज्ञ' (=देवसंगति) इन शब्दों से वेदों में कहा गया है। उन्हीं देवताओं की तथा उनके साथ सख्य (=देवसख्य) की महिमा का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है--

निधानं सर्वरत्नानां हेतुः कल्याणसंपदाम्।
सर्वस्या उन्नतेर्मूलं महतां सङ्ग उच्यते ॥१॥

महान् पुरुषों का संग समस्त उत्कृष्ट अमूल्य पदार्थों का आश्रय, कल्याण-संपत्तियों का हेतु और सारी उन्नति का मूल कहा जाता है।

नीचे देवताओं के महत्व को और उनके साथ सखिभाव की आवश्यकता को बतलाते हैं--

सातत्येन स्वकर्तव्यपालने ये दृढव्रताः।
स्वार्थबुद्ध्या न संपृक्ताः परोपकरणे रताः ॥२॥
विश्वसंचालने भागं संजानाना उपासते।
अनादिनिधना नूनमस्मद्दृष्ट्या न संशयः ॥३॥

ते देवा वेद आम्नाता महद्भ्योऽपि महत्तराः।
विश्वस्मादंहसोऽस्माकं त्रातारो ये सुदानवः ॥४॥
सायुज्यमथ सारूप्यं सालोक्यमपि वा पुनः।
वस्तुतः सखिभावश्च तैः सहास्माभिरिष्यताम् ॥५॥

जो सर्वदा अपने कर्तव्यों के पालन में दृढ़व्रत हैं,
स्वार्थ-बुद्धि से संपृक्त न होकर परोपकार में रत हैं,
परस्पर सांमनस्य रखते हुए विश्व के संचालन में अपने-अपने भार को वहन करते हैं,
हमारी दृष्टि से निस्सन्देह आदि और अन्त से रहित हैं,
बड़ों से भी बड़े, सारे पापों से हमको बचानेवाले और अच्छे दानी हैं,
वेद में ऐसे ही देवताओं का वर्णन किया गया है।
उन्हीं के साथ हमें एकीभाव, सरूपता, सलोकता और वास्तविक सखिभाव की इच्छा करनी चाहिए।
नीचे देवताओं के नियमों के अनुकूल जीवन की महिमा को बतलाते हैं—

देवानां नियमानाहुर्ऋतशब्देन पण्डिताः।
अस्माकं जीवनस्यापि व्यापारास्तैर्नियन्त्रिताः ॥६॥
देवानां सुमतौ तिष्ठन् सर्वभावेन सर्वदा।
जीवन्नेव नरो नूनं भुवं स्वर्ग्यं समश्नुते ॥७॥

देवताओं के नियमों को पण्डित 'ऋत' शब्द से कहते हैं। उन्ही नियमों से हमारे जीवन के व्यापार भी नियन्त्रित है।
पूरे प्रयत्न से सर्वदा देवताओं के नियमों की अनुकूलता में रहने वाला मनुष्य जीता ही अवश्य स्वर्गीय सुख को प्राप्त कर लेता है।

सत्सङ्गतेर्महत्त्वं यद् उच्चैराहुर्मनीषिणः।
वस्तुतस्तस्य सार्थक्यं जायते देवसंगतौ ॥८॥

मनीषी लोग सत्संगति के महत्त्व की जो विशेष चर्चा करते हैं उसकी सार्थकता वस्तुतः देव-संगति में ही होती है।

देवसंगतिरेवैषा सर्वकामदुघा नृणाम्।
ऋषिभिर्यज्ञशब्देन श्रुत्यादिषु निगद्यते ॥९॥

यही देवसंगति मनुष्यों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है। वेद आदि में ऋषियों द्वारा 'यज्ञ' शब्द से वास्तव में देव-संगति का ही कथन किया गया है।

: ३९ :

दृष्ट्वा कुसुममारामे !

लोकसेवा

मान् पुमांसं परि पातु विश्वतः" (ऋग्० ६ । ७५ । १४)

अर्थात्, एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

सुगन्धि दर्शनीयं च लोकरञ्जनतत्परम् ।
दृष्ट्वा कुसुममारामे सर्वैरप्यभिनन्दितम् ॥१॥
प्रसादसुमुखः शीलचारित्र्याभ्यां सुवासितः ।
उद्युक्तो लोकसेवायां भवेयमिति भावये ॥२॥

उपवन में सुगन्धित, सुन्दर, लोकों के रञ्जन में तत्पर और साथ ही सब के द्वारा अभिनन्दित पुष्प को देखकर, मेरे मन में आता है कि मुझे भी प्रसन्न-मुख, शील और चारित्र्य के सुगन्ध से वासित तथा लोक-सेवा में तत्पर होना चाहिए!

: ४० :

प्रभोः प्रसादनायैव

ईश्वर की प्रसन्नता

"तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि
भद्रे सौमनसे स्याम" (ऋग्० ३। ५९। ४)

अर्थात्, हम पूजनीय परमेश्वर की अनुकूलता और कल्याणप्रद प्रसन्नता को प्राप्त करें!

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
नियन्त्रितं जगत्कृत्स्नं सर्वानुग्रहहेतवे ॥१॥
तत्रासक्तिं परित्यज्य कर्तव्यं कर्म कुर्वतः ।
प्रभोः प्रसादनायैव व्यग्रता निष्प्रयोजना ॥२॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा ने कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा, सबके कल्याणार्थ, सारे जगत् को नियन्त्रित कर रखा है।

ऐसी स्थिति में कर्म-फल में आसक्ति को छोड़कर जगत्प्रभु ईश्वर की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही अपने कर्तव्य कर्म को करने वाले के लिए व्यग्रता या चित्त की व्याकुलता नितरां व्यर्थ है।

: ४१ :

व्यग्रता निष्प्रयोजना

व्यग्रता की व्यर्थता

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" (ऋग्० ६।७५।१९)

अर्थात्, परमात्मा का विश्वास ही मेरा आन्तरिक कवच है।

त्वमेव त्वत्प्रियो वापि वर्तते कष्टसन्ततौ।
यदा, तदा परीक्षायाः कालोऽस्तीति विभाव्यताम् ॥१॥

जब तुम, या तुम्हारा कोई प्रियजन आपत्तियों में फंसा हो, तब 'यह परीक्षा का समय है'—ऐसा सोचना चाहिये।

कुर्वस्तदा यथाशक्ति प्रतीकारमधीरताम्।
व्यग्रतां वाप्यविश्वासं मा भजेथाः परात्मनि ॥२॥

उस समय यथाशक्ति आपत्तियों का प्रतीकार करते हुए अधीरता, व्यग्रता अथवा परमात्मा में अविश्वास को अपने पास न आने दो।

कुर्वती चित्तविक्षोभमात्मदौर्बल्यमेव च।
कार्यसिद्धेर्विघातं च व्यग्रता निष्प्रयोजना ॥३॥

चित्त-विक्षोभ, आत्म-दुर्बलता और कार्य-सिद्धि के विघात को करने वाली व्यग्रता से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

नद्यावर्तेन ग्रस्तो यस् त्यक्तधैर्यो भवेन्नरः।
त्रातुं शक्तः स नात्मानं परं वापीति दृश्यते ॥४॥

देखने में आता है कि नदी के भँवर में फँसा हुआ मनुष्य यदि धैर्य को छोड़ देता है तो न तो वह अपनी ही रक्षा कर सकता है, न दूसरे की।

: ४२ :

नूनं तन्मूल्यमल्पीयः

अपना मूल्य

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५)

अर्थात्, अपने ही कारण सब पदार्थ हमको प्रिय होते है।

अर्थो वापि पदं वापि लोकैर्यदभिलष्यते।
तदर्थं यत्नमातिष्ठेद् यावच्छक्ति सुधीर्नरः ॥१॥
परं तदनवाप्तिश्चेन् नात्मानमवसादयेत्।
नूनं तन्मूल्यमल्पीय आत्मनोऽपेक्षया मतम् ॥२॥

लोग जिसकी अभिलाषा रखते हैं ऐसे पदार्थ या पद की प्राप्ति के लिए बुद्धिमान् मनुष्य को यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए।

परन्तु यदि वह पद या पदार्थ उसे प्राप्त न हो तो उसे अपने को खिन्न न होने देना चाहिए, क्योंकि उस पदार्थ या पद का मूल्य जिसको वह चाहता है, उसकी अपनी अपेक्षा कम ही माना जाता है। अर्थात्, उसका अपना मूल्य उस पद या पदार्थ के मूल्य से कहीं अधिक होता है; क्योंकि पद या पदार्थ उसके लिए होते है, न कि वह उनके लिए।

: ४३ :

यदेतदान्तरं ज्योतिः

आभ्यन्तर ज्योतिः

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डकोपनिषद् २।२।१०)

अर्थात्, आत्मा के प्रकाश से ही यह सब जगत् भासित होता है।

मनुष्य का अपना वास्तविक महत्त्व कितना बड़ा है, इसका प्रतिपादन नीचे किया गया है—

निधानं सर्वशक्तीनां तेजस्तेजस्विनां तथा।
नात्मानमवमन्येथा भ्रातर्मोहवशं गतः ॥१॥

अयि भाई! अज्ञान-वश होकर अपनी आत्मा का अपमान न करो, जो सारी शक्तियों का आश्रय है और सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों का तेज है।

यदेतदान्तरं ज्योतिः सर्ववस्तुप्रकाशकम्।
भोक्तृ यच्चापि लोकानां तदहं नात्र संशयः ॥२॥

जो तत्त्व इस आभ्यन्तर ज्योति के रूप में सारी वस्तुओं का प्रकाशक है और लोकों का भोक्ता है, मैं वही हूँ, इस विषय में कोई संदेह नहीं है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा ही सब वस्तुओं का द्रष्टा और उपभोक्ता है। अर्थात्, आत्मा के कारण ही उनके अस्तित्व और महत्त्व का अर्थ समझा जा सकता है

लोकेऽत्र जीवनमिदं परिवर्तशीलं
दृष्ट्वा विभावय सखे! ध्रुवसत्यमेतत्।
'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजालिः' ॥३॥

संसार में यह जीवन परिवर्तन-शील है, यह देखकर अयि मित्र! इस ध्रुव सत्य का सदा ध्यान रखो कि 'रात्रि बीत जायगी, प्रातःकाल होगा, सूर्यदेव का उदय होगा, और कमलों की पंक्ति खिलकर हँसेगी'। अर्थात्, आपत्ति के समय का अन्त अवश्य होगा और अच्छा समय लौटेगा, इसका विश्वास सब को रखना चाहिए।

: ४४ :

ध्वान्तं धावति दूरतः

मनःप्रसाद

"विश्वदानीं सुमनसः स्याम" (ऋग्० ६।५२।५)

अर्थात्, हम सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहें!

नानाविध्याधिखिन्नेभ्यो मानवेभ्यः परात्मना।
मनःप्रसादरूपोऽयं प्रसादो नूनमर्पितः ॥१॥

नाना प्रकार की आधियों और व्याधियों से खिन्न मनुष्यों के लिए परमात्मा ने मनःप्रसाद (= मन की प्रसन्नता) रूपी प्रसाद प्रदान किया है।

यथा सूर्योदये प्रातर् ध्वान्तं धावति दूरतः।
तथा मनःप्रसादेन सर्वा बाधा प्रशाम्यति ॥२॥

जैसे प्रातःकाल सूर्योदय के होते ही अन्धकार दूर भाग जाता है, वैसे ही मनःप्रसाद से सारी बाधायें शान्त हो जाती हैं।

प्रत्यक्षं देवता ह्येषा सद्यः कल्याणकारिणी।
जयाय सर्वलोकानाममोघो मन्त्र एव वा ॥३॥

मनःप्रसाद को प्रत्यक्ष देवता ही समझना चाहिए जो अपने उपासक का तत्काल कल्याण करने वाली है। अथवा, सब लोगों पर विजय प्राप्त करने के लिए इसको अमोघ मन्त्र ही समझना चाहिए।

कर्तव्यमिदमस्माकं प्रथममवधार्यताम्।
सर्वदा सर्वथा तस्य परिरक्षा विधीयताम् ॥४॥

हमारा यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि हम मनःप्रसाद की सब प्रकार से सदा रक्षा करें।

आगे उसकी रक्षा के उपायों को बतलाते हैं--

'अस्मद्धिताय संसृष्टा सृष्टिरेषा परात्मना।'
मनःप्रसादरक्षायै चिन्तनीयं मुहुर्मुहुः ॥५॥

'यह सृष्टि परमात्मा ने हमारे हित के लिए ही रची है' मनःप्रसाद की रक्षा लिए बार-बार यही सोचना चाहिए।

साथ ही,

सत्यं दमोऽनसूया च बुद्धिर्लोकहितैषिणी।
उपायास्तस्य रक्षाया अभियुक्तैः प्रकीर्तिताः ॥६॥

प्रामाणिक विद्वानों ने सत्य, दम (=इन्द्रिय-संयम), अनसूया (=ईर्ष्या न करना), और संसार के हित को चाहने वाली बुद्धि--इन उपायों को भी मनः-प्रसाद की रक्षा के लिए बतलाया है।

: ४५ :

चारित्र्यस्य समुन्नतिः

चरित्र का विकास

"अग्ने... मा सुचरिते भज" (यजु० ४।२८)

अर्थात्, हे प्रकाशमान देव! मुझे चारित्रवान् बनाइये।

त्याज्या भविष्यतश्चिन्ता, नैव सा कार्यसाधिका।
क्रियते चेत्, तदा कार्या चारित्र्यस्य समुन्नतेः ॥१॥

भविष्य की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए, उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि चिन्ता की ही जाती है, तो चरित्र की उन्नति की करनी चाहिए।

इसी भाव को दूसर प्रकार से कहते हैं--

भविष्यतश्चिन्तन एव प्रायो मग्ना मनुष्याः प्रकृतिप्रभावात्।
व्यर्थं तदेतन्, नहि कार्यसिद्धौ निमित्तता केवलचिन्तनस्य ॥२॥

मनुष्य स्वभाव-वश प्रायः भविष्य की चिन्ता में ही डूबे रहते हैं। पर यह व्यर्थ ही है, क्योंकि कार्य की सिद्धि में केवल चिन्ता से कुछ नहीं होता।

: ४६ :

चिन्ता सा निष्फला नूनम्

चिन्ता और कर्तव्यपालन

"विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः" (ऋग्० ३।७५।८)

अर्थात्, हम सदा ही अपने को प्रसन्न रखें।

जनस्य वस्तुनो वापि विषये योपजायते।
चिन्ता सा निष्फला नूनमात्मसन्तापकारणम् ॥१॥

किसी प्रियजन या वस्तु के विषय में जो चिन्ता की जाती है, वह निश्चय ही निष्फल होती है और उससे आत्मा को सन्ताप ही होता है।

तस्माच्चिन्तास्थले चित्तप्रसादेन विशुद्धधीः।
कर्तव्यमाचरंस्तिष्ठेद् आत्मवान् धैर्यसंयुतः ॥२॥

इसलिए आत्मःसंयम रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि चिन्ता के विषय उपस्थित होने पर मनःप्रसाद द्वारा अपनी बुद्धि को ठीक रखते हुए धैर्य के साथ अपने कर्तव्य का ही पालन करे।

चिन्तया चित्तसंताप आत्मदौर्बल्यमेव च।
प्रत्यक्षं जायते, तस्माच् चिन्तां तां परिवर्जयेत् ॥३॥

यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि चिन्ता से चित्त को सन्ताप और आत्म-दुर्बलता ही होती है। इसलिए चिन्ता को छोड़ ही देना चाहिए।

मनःप्रसादमाश्रित्य सुसुखमापदापगाः।
धीरास्तरन्ति, नात्मानमवसादं नयन्ति ते ॥४॥

धीर मनुष्य मनःप्रसाद का सहारा लेकर आपत्ति की नदियों को सुख-पूर्वक पार कर जाते हैं। वे अपने को दुःखी नहीं करते।

: ४७ :

एते हि शत्रवः क्रूराः

आभ्यन्तर शत्रु

"मा त्वा परिपन्थिनो विदन्" (यजु० ४।३४)

अर्थात्, ऐसा यत्न करो कि तुम्हारी उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें।

शत्रोराक्रमणे शक्त्या प्रतिरोधाय यत्यते।
स्वगृहाभ्यन्तरे तस्मा अवकाशो न दीयते ॥१॥

शत्रु के आक्रमण करने पर पूर्ण शक्ति से उसके रोकने का यत्न किया जाता है। अपने घर के अन्दर आने के लिए उसको अवकाश नहीं दिया जाता।

तथाक्रमणवेलायां लोभादीनां समन्ततः।
नावकाशः प्रदातव्य आत्मनोऽभ्यन्तरे बुधैः ॥२॥

इसी प्रकार सब ओर से लोभ, मोह आदि मनो-विकारों के आक्रमण करने पर बुद्धिमानों को चाहिए कि उनको अपने अन्दर घुसने का अवकाश न दें।

एते हि शत्रवः क्रूराः प्रविश्यान्तः प्रमाथिनः।
बुधस्तानभियुध्येत पूर्णशक्त्या ह्यतन्द्रितः ॥३॥

ये लोभादि शत्रु बड़े क्रूर हैं और अन्दर प्रवेश करके अत्यन्त पीड़ा देने वाले हैं। इसलिए बुद्धिमान् को चुस्त होकर पूर्ण शक्ति के साथ पहले से ही उनका सामना करके युद्ध करना चाहिए।

: ४८ :

राजते रजनीमुखम्

नाम-संकीर्तन-महिमा

"मयि धेहि रुचारुचम्" (यजु० १८।४८)

अर्थात्, भगवन्! मुझे प्रसन्नता के प्रकाश से भरपूर कर दीजिए।

यथा तमोवृतं सद्म प्रकाशे सति दीप्यते।
यथारण्यं निरानन्दमारामैरुपशोभते ॥१॥
आरामरमणीयत्वं यथा पुष्पैश्च जायते।
यथोदयेन चन्द्रस्य राजते रजनीमुखम् ॥२॥
सुविचारैर्जपेनेशनामसंकीर्तनेन च।
तथैव मानसं सद्यः प्रसन्नं जायते ध्रुवम् ॥३॥
एवं भूयः प्रयत्नेन ज्ञानविज्ञाननाशनम्।
मोहं नैराश्यमुन्मूल्य यतात्मा विचरेन्मुनिः ॥४॥

जैसे अन्धकार से आवृत भवन प्रकाश के होने पर प्रदीप्त हो उठता है,
जैसे बीहड़ जंगल उपवनों के रूप में शोभायमान हो जाता है,
जैसे फूलों से उपवनों की रमणीयता बढ़ जाती है,
जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर रजनी का मुंह कान्तियुक्त हो जाता है,
ऐसे ही मानव का हृदय अच्छे विचारों से, जप से और भगवन्नाम के संकीर्तन से निश्चय ही तत्काल प्रसन्न हो जाता है;
अर्थात् उसका हृदय-कमल खिल उठता है।
संयतात्मा मुनि को इस प्रकार बारबार प्रयत्नपूर्वक ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाले मोहरूपी नैराश्य का उन्मूलन करके अपने जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहिए।

: ४९ :

परात्मना रक्षितो वर्त्ते

परमात्मा का वरद हस्त

"नास्य क्षीयन्त ऊतयः" (ऋग्० ६।४५।३)

अर्थात्, भगवान् के रक्षणों में कभी कमी नहीं आती।

नूनं स्वजन्मनः पूर्वमन्तर्यामिनियन्त्रितः।
अभूवमहम्, एवं वै मृत्योः पश्चान्स्थितिर्ध्रुवा ॥१॥
सत्येवम्, 'अल्पकालेऽस्मिञ्जीवनेऽपि परात्मना।
सर्वथा रक्षितो वर्त्ते, इत्येवमवधार्यताम् ॥२॥

अपने जन्म से पहले मैं निश्चय ही अन्तर्यामी परमात्मा से नियन्त्रित था। मृत्यु के पश्चात् भी निस्सन्देह ऐसी ही स्थिति होगी। ऐसी दशा में, 'इस अल्पकालीन जीवन में भी मैं परमात्मा से सर्वथा रक्षित हूँ' ऐसा ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जन्म से पहले उसकी क्या दशा थी और मरने के बाद क्या होगी, यह कोई मनुष्य नहीं जानता। उक्त दोनों अवस्थाओं में, जिनका काल बहुत लंबा हो सकता है, वह किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा ही नियन्त्रित तथा रक्षित रहता है। ऐसी स्थिति में इस स्वल्पकालीन जीवन में भी वह उसी अदृष्ट शक्ति द्वारा सर्वथा रक्षित है, ऐसी ही भावना प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिए।

: ५० :

जीवने नाट्यसादृश्यम्

जीवन-नाट्य

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११)।

अर्थात्, वह परमात्मा सब का साक्षी, ज्ञानस्वरूप, निर्द्वन्द्व और सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीनों गुणों से रहित है।

धनव्ययेन दृश्यानि नाट्यादीनि समुत्सुकाः।
पश्यन्ति लौकिकास्तद्वद् वर्त्तेथा जीवनं प्रति ।।१।।

सांसारिक लोग धन का व्यय करके बड़ी उत्सुकता के साथ नाट्य आदि के दृश्यों (तमाशों) को देखते हैं। जीवन के विषय में भी तुम ऐसा ही बर्ताव रखो।

अभिप्राय यह है कि जीवन मानो एक नाटक है। उसकी सुख-दुःखात्मक घटनाओं में लिप्त न होते हुए ही तुम्हें अपने अनुभव की वृद्धि और विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते रहना चाहिए।

: ५१ :

उत्तरोत्तरमुन्नतिः

उत्तरोत्तर उन्नति

"प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः" (ऋग्० १०।५९।१)

अर्थात्, भगवन्! हमें उत्तरोत्तर समुन्नति-शील नवीनतर जीवन में अग्रसर कीजिए!

जन्मजन्मान्तरस्यैतद् विज्ञा आहुः प्रयोजनम्।
अनुभूतिविशेषैर्यदुत्तरोत्तरमुन्नतिः ॥१॥

विज्ञों का कहना है कि विभिन्न अनुभवों द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति अथवा विकास ही जन्म-जन्मान्तर का प्रयोजन है।

तस्माद् यानुभवस्याप्तिर्मानवस्येह जायते।
दुःखरूपापि सा नूनं मन्तव्या सप्रयोजना ॥२॥

इसलिए मनुष्य को इस जीवन में दुःख-रूप में भी जो अनुभव प्राप्त होता है उसको सप्रयोजन ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने जीवन की दुःखात्मक घटनाओं से न घबड़ाकर उनको, उनसे प्राप्त शिक्षा या अनुभव द्वारा, अपने उत्तरोत्तर विकास का साधन ही बनाना चाहिए। क्योंकि--

यथार्ज्यते धनं लोके दुःखैः कष्टैश्च भूरिशः।
तथा तैरर्ज्यते ज्ञानं जनैरनुभवात्मकम् ॥३॥

जैसे संसार में अनेक प्रकार के दुःखों और कष्टों से धन का संचय किया जाता है, वैसे ही अनुभवात्मक ज्ञान भी अनेक दुःखों और कष्टों से संचित किया जाता है।

: ५२ :

त्रिलोक्या अपि मूल्येन !

ईश्वर-प्रार्थना

"महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ॥ (ऋग्० ६।४५।३)

अर्थात्, भगवान् की लीला या चरित्रों की कोई सीमा नहीं है। उनकी गुणवर्णना की गणना नहीं हो सकती। उनके रक्षणों में कभी कमी नहीं आती।

दत्तं देवेन यत् तुभ्यं तदर्थं स्वकृतज्ञताम् ।
ब्रूहि तं परमात्मानं मा भूत् तेऽत्र कृतघ्नता ॥१॥

परमात्मा ने जो कुछ तुमको दिया है, तुमको चाहिए कि उसके लिए परमात्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता को प्रकट करो। इस विषय में तुम्हें कृतघ्न न होना चाहिए।

यदवाप्तं त्वया देवात् तदर्थं योग्यतात्मनः ।
दर्शनीया प्रयत्नेन प्रार्थनीयं ततोऽधिकम् ॥२॥

तुमने जो कुछ परमात्मा से पाया है उसके लिए पहले प्रयत्न-पूर्वक अपनी योग्यता को दिखलाओ। उसके अनन्तर ही उससे अधिक के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

यच्चाप्राप्तं तदर्थं मा व्यग्रो भूर्यत्नमाचरेः ।
सत्ये श्रद्धामथास्तिक्यं भज विश्वासमात्मनि ॥३॥

जो तुमको नहीं प्राप्त हुआ है उसके लिए व्यग्र न होकर प्रयत्न करो। साथ ही, सत्य में श्रद्धा, आस्तिक्य (= अपने आदर्शों में आस्था) और आत्म-विश्वास रखो।

यच्चाप्यधिगतं देवात् तुच्छत्वेनावमन्यते ।
मूढैस्, तद्वस्तुतोऽमूल्यं विज्ञैरेवं विभाव्यते ॥४॥

ईश्वर से जो कुछ हमको मिला है, मूढ़ तुच्छ समझकर उसका अपमान करते हैं। परन्तु विज्ञ वास्तव में उसको अमूल्य समझते हैं।

एकैकमिन्द्रियं तावद् बुद्धिर्वा स्वास्थ्यमेव वा ।
यत्त्वयाधिगतं देवात् तस्य मूल्यं विभाव्यताम् ! ॥५॥

विद्यतेऽत्र जनः कश्चिद् विक्रेतुमुद्यतो भवेत्।
त्रिलोक्या अपि मूल्येन ह्यर्थेष्वेतेषु कञ्चन ? ॥६॥

जो कुछ तुमने परमात्मा से पाया है—एक-एक इन्द्रिय, अथवा बुद्धि, अथवा स्वास्थ्य—उसके मूल्य पर तो तनिक विचार करो!

इस संसार में क्या कोई ऐसा मनुष्य है जो तीनों लोकों के मूल्य से भी इन पदार्थों में से किसी एक को भी बेचने को उद्यत होगा?

तस्माद् विज्ञैर्विवेकेन वस्तुमूल्यं विभाव्यताम्।
तद्दृष्ट्या तस्य तुच्छत्वं महत्त्वं वावधार्यताम् ॥७॥

इसलिए विज्ञों को विवेक-पूर्वक वस्तुओं के मूल्य पर विचार करना चाहिए और उस मूल्य की दृष्टि से उनके तुच्छत्व और महत्त्व का निश्चय करना चाहिए।

एवंविधविचारैस्तु वर्तमाना मनीषिणः।
धन्यवादपरा ईशे ह्यनिर्विण्णाः सदासते ॥८॥

॥ इति रश्मिमालायां **मनःप्रसादो** नाम षष्ठो रश्मिः॥

॥ इति रश्मिमालायां भुवः पटलं नाम द्वितीयो भागः ॥

इस प्रकार के विचारों से जीवन-यात्रा करने वाले मनीषी लोग ईश्वर को धन्यवाद देते हुए सदा प्रसन्न-चित्त रहते हैं।

रश्मि-माला

स्वः पटलं

नाम

तृतीयो भागः

●

रश्मि-माला

'स्वः पटल'

नामक

तृतीय भाग

सप्तमो रश्मिः

सोऽयं मे निधिरक्षय्यः

विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । (निरुक्तम् २।४)
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । (कठोपनिषद्
१।१।२७)
अस्ति रत्नमनागसः (ऋग्० ८।६७।७)

●

सप्तम रश्मि

मेरी अक्षय निधि

विद्या ने विद्वान् के पास आकर कहा कि तू मेरी रक्षा कर, मैं ही तेरी अमूल्य निधि हूँ। (निरुक्त २।४)

मनुष्य की तृप्ति सांसारिक धन से नहीं हो सकती। (कठोपनिषद् १।१।२७)

स्वच्छ-हृदय विद्वान् के लिए निधिरूप अमूल्य रत्नों की कहीं भी कमी नहीं होती। (ऋग्० ८।६७।७)

: ५३ :

हृद्यैः कलकलालापैर्लापिनी वारिवाहिणी !

प्राकृतिक सौन्दर्य

दृढतास्थिरतादर्शा लोकोपकृतितत्पराः।
एकान्तशान्तिधामानि गिरयः सज्जनैः समाः ॥१॥
वनलक्ष्म्या निवासास्ताः सुरम्या वनराजयः।
मधुरारावणो नानारूपिणः पक्षिणस्तथा ॥२॥
नेत्रोत्सवं वितन्वन्ति दिव्यगन्धानि भूरिशः।
पुष्पाणि प्रकृतेर्देव्या यैर्हासाय्यते ननु ॥३॥
हृद्यैः कलकलालापैर्लापिनी वारिवाहिणी।
अमन्दानन्ददो नित्यं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥४॥

सज्जनों के समान दृढ़ता और स्थिरता के आदर्श, लोकोपकार में तत्पर, और एकान्त शान्ति के धाम पर्वत[1],

वन-लक्ष्मी की निवास-भूत, वे सुरमणीय वनों की श्रेणियाँ,

तथा मधुर शब्द करने वाले, विचित्र रूप-रंगों के पक्षी,

नेत्रों को प्रसन्नता देने वाले, दिव्य गन्धों से युक्त, अनेकानेक प्रकार के पुष्प, जो प्रकृति देवी के हास जैसे प्रतीत होते हैं, और

मनोरम कलकला शब्दों को करनेवाली नदी—

यह अमन्द आनन्द को देनेवाली मेरी अक्षय निधि है।

---

१. सज्जन अपने चरित्र में दृढ़ और वचन में स्थिर होते हैं। वे परोपकारी होते हैं और उनके मन में शान्ति रहती है। पर्वत भी दृढ़ और स्थिर होते हैं। वे लकड़ी, पत्थर, नदियों आदि द्वारा संसार का हित-साधन करते हैं और उनमें शान्ति विराजती है।

: ५४ :

यादसां पतिः

समुद्र

स्वच्छोच्छलज्जलैः पूर्णोऽसंख्यानां यादसां पतिः।
आकुलोऽपि तरङ्गैर्यो मर्यादां नातिवर्तते ॥१॥
गाम्भीर्येण बृहत्त्वेन साश्चर्यमिव मानवम्।
कुर्वल्लोकातिगावस्थामासादयति सत्त्वरम् ॥२॥
यस्मिन्नदीनदानां वै नैकनामानि बिभ्रताम्।
ब्रह्मणीव विभेदानामेकत्वमुपजायते ॥३॥
नानासंतापतप्तायाः पृथिव्याश्चित्तशान्तये।
मन्ये विनिर्मितो धात्रा सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥४॥

उछलते हुए स्वच्छ जलों से परिपूर्ण,

असंख्य जल-जन्तुओं का नाथ,

तरंगों से आन्दोलित होने पर भी जो अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता,

जो अपनी गंभीरता और विशालता के कारण मनुष्य को आश्चर्य-चकित करता हुआ सद्यः लोकोत्तर अवस्था को पहुंचा देता है,

जिसमें अनेकों नामों वाली नदियां और नद, ब्रह्म में अनेक प्रकार के भेदों के समान, एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं,

जिसको सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा ने मानो नाना प्रकार के संतापों से संतप्त पृथिवी के चित्त को शान्ति देने के लिए रचा है,

ऐसा जो समुद्र—

वही मेरी अक्षय निधि है।

: ५५ :

भास्वदम्बरमण्डलम् ।

अम्बर-मण्डल

स्वयंसूर्यैरसंख्यैर्यदस्मत्सूर्यातिशायिभिः ।
तारागणैः समाच्छन्नं मुक्तामणिगणैरिव ॥१॥
नानासंतापखिन्नानां मनोनिर्वाणदायिना ।
मनोज्ञचन्द्रिकासंपच्चारुचन्द्रेण चर्चितम् ॥२॥
त्रिलोक्याः प्राणशक्तेर्यन्निधानेन विवस्वता ।
सवित्रा तमसां हन्त्रा प्रेरकेण धियां तथा ॥३॥
ज्योतिषां ज्योतिषा दीप्तं भास्वदम्बरमण्डलम् ।
मण्डनं प्रकृतेर्देव्याः सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥४॥

हमारे सूर्य से भी बड़े, स्वयं सूर्य-रूप, असंख्य तारागणों से, मानो मुक्तामणि के समूहों से, संव्याप्त,[1]

अनेक प्रकार के संतापों से खिन्न मनुष्यों के मनों को शान्ति देनेवाले, मनोरम चाँदनी की संपत्ति से सुन्दर चन्द्रमा से शोभायुक्त,[2]

तीनों लोकों की प्राण-शक्ति के निधिरूप, उत्पादक शक्ति के उद्गम, अन्धकार को भगानेवाले, बुद्धियों के प्रेरक, तथा ज्योतियों के भी प्रकाशक सूर्य भगवान् से प्रदीप्त,[3]

ऐसा जो प्रकृतिदेवी का अलंकार-भूत प्रभायुक्त आकाशमण्डल है—
वही मेरी अक्षय निधि है।

---

१. अर्थात्, कृष्ण पक्ष की रात्रि का आकाश-मण्डल।
२. अर्थात्, शुक्ल पक्ष की रात्रि का आकाश-मण्डल।
३. अर्थात्, दिन में सूर्य से प्रकाशित आकाश-मण्डल।

: ५६ :

वाङ्मयम्

वाङ्मय

ऋषिभिर्मुनिभिः पूर्वैराचार्यैस्तत्त्वदर्शिभिः।
तपःस्वाध्यायनिरतैः शान्तैर्दान्तैर्मनीषिभिः ॥१॥
लोककल्याणबुद्ध्यैव नैव स्वार्थपरायणैः।
वाङ्मयं यन्महत्सृष्टं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥२॥

तत्त्वदर्शी, तप और स्वाध्याय में तत्पर, शान्त, दान्त और मनीषी ऋषियों, मुनियों और प्राचीन आचार्यों ने, स्वार्थपरायण होकर नहीं, किंतु लोक के कल्याण के विचार से ही, जिस उत्कृष्ट वेदादि के वाङ्मय की सृष्टि की है--

वही मेरी अक्षय निधि है।

: ५७ :

योगः

योगसाधन

जन्मजन्मान्तरीयस्य कर्मव्रातस्य संक्षये।
लोकलोकान्तरीयस्य वस्तुनस्तत्त्वनिर्णये ॥१॥
या सत्या या परा शान्तिस्तस्याः संपादने महत्।
कारणं योग आम्नातः सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥२॥

जन्म-जन्मान्तर के संचित सकाम कर्मकलाप के नाश करने में,
लोक-लोकान्तर के पदार्थों के स्वरूप के निर्णय करने में, तथा
जो सत्य तथा उत्कृष्ट शान्ति है उसकी प्राप्ति में,
योग-साधन को विशिष्ट कारण कहा गया है--

वही मेरी अक्षय निधि है।

: ५८ :

सौम्या मनःस्थितिः

सौम्य मनःस्थिति

अभिमानेन दम्भेन दर्पेण परिवर्जिता।
शान्ता न मायया स्पृष्टा संयमेन पुरस्कृता ॥१॥
श्रद्धया च विवेकेन सत्यमार्गानुसारिणी।
लोककल्याणबुद्धचैव ज्ञानोपार्जनकारिणी ॥२॥
हितबुद्धचा समस्तानां प्राणिनां या समन्विता।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टचारित्र्यपरिपोषिणी ॥३॥
नैराश्येन विनिर्मुक्ता यासौ सौम्या मनःस्थितिः।
सन्तुष्टा च प्रसन्ना च सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥४॥

अभिमान से, दम्भ से, और दर्प से रहित,
शान्त, छल-कपट से अस्पृष्ट, और संयम से युक्त,
श्रद्धा और विवेक के साथ सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाली,
संसार के कल्याण की बुद्धि से ही ज्ञान का उपार्जन करने वाली,
समस्त प्राणियों के हित की बुद्धि से समन्वित,
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चारित्र्य को पुष्ट करने वाली,
नैराश्य रहित, सन्तुष्ट और प्रसन्न
जो सौम्य मनःस्थिति है—
वही मेरी अक्षय निधि है।

: ५६ :

अनन्ता प्रभा

अनन्त प्रभा

अनन्ता या प्रभा नित्या सर्वस्यान्तः प्रकाशते।
जगदेतत्समस्तं तु यस्या अंशेन भासते ॥१॥
सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।
स्रोतस्विनी सदानन्दवारिणा चिन्मयी च या ॥२॥
कृतकृत्या जितात्मानो यस्यां मज्जन्ति योगिनः।
निर्धूतकल्मषा नूनं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥३॥

॥ इति रश्मिमालायां **'सोऽयं मे निधिरव्ययो'** नाम सप्तमो रश्मिः ॥

जो अनन्त तथा नित्य प्रभा सबके अन्दर प्रकाशित हो रही है,

जिसके अंश-मात्र से यह सारा जगत् भासित होता है,

जो स्वयं सौम्य और सौम्यतर है और समस्त सौम्य एवं सुन्दर पदार्थों की अपेक्षा अतिसुन्दरी है,

जो सर्वदा आनन्दरूपी जल के प्रवाह से युक्त नदी के समान है और चैतन्य वाली है,

जिसमें अपने को जीतने वाले, पाप से रहित, कृतकृत्य योगी लोग डुबकी लगाते हैं—

वही मेरी अक्षय निधि है।

अष्टमो रश्मिः

तत्त्व-मीमांसा

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । (ऋग्० १।१६४।४६)
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति
(ऋग्० १०।११४।५)
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
(यजु० ३२।१)

अष्टम रश्मि

तत्त्व-मीमांसा

एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं।
(ऋग्० १।१६४।४६)

एक ही सर्वव्यापक तत्त्व को विद्वान् कवि वचनों द्वारा अनेक रूपों में कल्पित करते हैं। (ऋग्० १०।११४।५)

उसी मूलतत्त्व को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र (प्रकाशयुक्त), ब्रह्म, अप् (जल), और प्रजापति कहा जाता है। (यजु० ३२।१)

: ६० :

तत्त्व-मीमांसा

मूलतत्त्व का विचार

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्०१।१६४।४६)

अर्थात्, एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं।

प्रायः प्रत्येक धर्म और संप्रदाय के लोग इस दृश्य जगत् के मूल में रहने वाले एक परम-तत्त्व को स्वीकार करते हैं। उसके लिए वे अपनी-अपनी परम्परा या दार्शनिक दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम भी देते हैं। इस नाम-भेद के ही कारण वे प्रायः यह सोच नहीं सकते कि नाम-भेद और दृष्टि-भेद से वह मूलतत्त्व वास्तव में असंपृक्त है, और इसीलिए उनसे स्वीकृत मूल-तत्त्व, नाम-भेद और दृष्टि-भेद के होने पर भी, वास्तव में एक ही है।

मूल-तत्त्व स्वयं-सिद्ध है। उसको किसी ने बनाया नहीं है। उसके सम्बन्ध में नाम-भेद और दृष्टि-भेद का यही अर्थ हो सकता है कि हम सब उसके स्वरूप को समझना चाहते हैं। ऐसी दशा में नाम-भेद और दृष्टि-भेद को ले कर झगड़ने का कोई अर्थ ही नही रह जाता। पर धर्मों और संप्रदायों के इतिहास इस झगड़े से भरे पड़े हैं। इसीलिए मूलतत्त्व-मीमांसा की विशेष आवश्यकता है। इसी मीमांसा को ले कर नीचे के पद्य लिखे गये हैं--

यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मतः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम् ॥१॥

समस्त सत्पदार्थ जिस मूलतत्त्व से उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनका लय होता है और जिसके आश्रय से वे वर्तमान रहते हैं, वह स्वयं नित्य और अव्यय अर्थात् क्षय-रहित है।

भाषासीमामतिक्रम्य ज्ञानगम्यं कथंचन।
स्वयम्भु, वस्तुतो नाम्ना रहितं तद्धि वर्तते ॥२॥

वह मूलतत्त्व भाषा की सीमा को अतिक्रमण करके रहता है, अर्थात् भाषा द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन कठिन है। किसी प्रकार केवल ज्ञान की गति उस तक हो सकती है। वह स्वयंभू है, अर्थात् उसको किसी दूसरे ने उत्पन्न नहीं किया है। वास्तव में उसका कोई अपना नाम नहीं है।

तन्नामविषये मन्दास्तत्तद्रूढिवशान्मुधा।
विवदन्ते, तदाश्चर्यमुपहासकरं महत् ॥३॥

उसी मूलतत्त्व के नाम के विषय में मन्द-बुद्धि लोग, विभिन्न शाब्दिक रूढ़ियों के कारण, व्यर्थ में विवाद करते हैं। यह बड़े आश्चर्य और उपहास की बात है।

नियतो विषयो वाचोऽनियतो मनसस्ततः।
ह्रसीयसी हि वागुक्ता मनसोऽपेक्षया श्रुतौ[1] ॥४॥

वाणी का विषय परिमित है और मन का अपरिमित। इसीलिए श्रुति (वेद) में मन की अपेक्षा वाणी को छोटा कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि हमारे मन के भावों को वाणी प्रायः पूर्णतया प्रकट नहीं कर पाती। इससे स्पष्ट है कि वाणी के क्षेत्र की अपेक्षा मन का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है।

तत्त्वं स्वभावतः सिद्धं गुणग्रामनिकेतनम्।
गुणमेकं समाश्रित्य पुनर्नाम प्रवर्तते ॥५॥

वह मूलतत्त्व स्वभाव से ही अनेकानेक गुणों का स्थान है। परन्तु (अन्वर्थ) नाम किसी एक गुण को लेकर ही प्रवृत्त होता है।

अभिप्राय यह है कि जितने भी अन्वर्थ नाम होते हैं वे सब किसी-न-किसी एक ही गुण को लेकर रखे जाते हैं। मूलतत्त्व में तो अनेकानेक गुण रहते हैं। इसलिए कोई अन्वर्थ नाम मूलतत्त्व का ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता। इसी बात को नीचे स्पष्ट किया गया है।

न विद्यते ततो नाम त्रिषु लोकेषु तादृशम्।
तत्त्वोपवर्णने शक्तं साकल्येन भवेत्तु यत् ॥६॥
अन्वर्थवाचकं सर्वं नाम तत्त्वस्य विद्यते।
नैव रूढं, ततस्तेन विशेषगुण उच्यते ॥७॥

इसलिए तीनों लोकों में कोई ऐसा नाम नहीं है जो पूर्णतया मूलतत्त्व के स्वरूप के वर्णन में समर्थ हो। क्योंकि उस मूलतत्त्व के जो भी नाम संसार में

---

१. तु०—"वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक्।" (शतपथ-ब्राह्मण १।३।६)। अर्थात्, मन की अपेक्षा वाणी छोटी है; क्योंकि मन का क्षेत्र अपरिमिततर जैसा है और वाणी का परिमिततर जैसा।

प्रसिद्ध हैं वे सब अन्वर्थ-वाचक ही हैं; अर्थात् किसी अर्थ को लेकर ही वे प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिए उन नामों से मूलतत्त्व के किसी-न-किसी विशेष गुण का ही अभिप्राय होता है। उनमें से कोई भी पूर्णरूप से मूलतत्त्व के सब गुणों को नहीं बतला सकता।

उसका कोई रूढ़ (= जिसमें अर्थ की अपेक्षा न हो) नाम तो है ही नहीं।

रुचिभेदाद्धियो भेदादथवा संप्रदायतः।
तत्त्वस्य विषये दृष्टेर्भेदः समुपजायते ॥८॥
दर्शनानि विभिन्नानि संप्रदायास्ततोऽपरे।
समुत्पन्नानि लोकेऽस्मिन् दृश्यन्ते यत्र तत्र वै ॥९॥

मूलतत्त्व के विषय में जो अनेक दृष्टियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण रुचि-भेद, बुद्धिभेद, अथवा संप्रदाय-भेद ही है।

संसार में जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले विभिन्न दर्शनों और संप्रदायों की उत्पत्ति इन्हीं कारणों से हुई है।

परिधानीयवस्त्राणां भोज्यानां चैव निश्चितम्।
प्रकारेषु महान् भेदो देशभेदेन दृश्यते ॥१०॥
तत्तत्कारणसत्त्वेऽपि तत्र भेदे, न मौलिकः।
अभिप्रायो मनुष्याणां भेदमापद्यते क्वचित् ॥११॥

विभिन्न देशों के पहनने के वस्त्रों और भोज्य पदार्थों के प्रकारों में महान् भेद पाया जाता है।

उक्त भेदों में विभिन्न देशों के जल-वायु आदि का भेद ही कारण होता है। तो भी पहनने के वस्त्रों और भोज्य पदार्थों के संबंध में मनुष्यों के मौलिक अभिप्राय में कोई भेद नहीं होता। अर्थात्, संसार में सर्वत्र वस्त्र शीत आदि से बचाव के लिए ही पहने जाते हैं और भोजन शरीर-पुष्टि के लिए ही किया जाता है।

रुचकादिप्रकारेण भिन्नाकारानुपेयुषः।
सुवर्णस्य सुवर्णत्वं हीयते न कदाचन ॥१२॥

सुवर्ण के गले आदि के आभूषणों में सोना भिन्न-भिन्न आकारों को धारण कर लेता है। तो भी, उनमें सुवर्ण का सुवर्णत्व ज्यों का त्यों रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

एवं सत्यपि दृष्टीनां विभेदे दर्शनादिषु।
तत्त्वं स्वरूपतः स्थायि कूटस्थं चैव वर्त्तते ॥१३॥

इसी प्रकार विभिन्न दर्शनों आदि में मूल-तत्त्व के विषय में विभिन्न दृष्टियों के पाये जाने पर भी, वह स्वरूप में स्थायी और कूटस्थ ही रहता है।

अभिप्राय यही है कि मूलतत्त्व के विषय में अनेक दृष्टियां भले ही हों, वह अपने रूप में सदा अविचल और स्थायी भाव से ही रहता है। उन दृष्टियों का उसक अपने रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एकस्यैव प्रमेयस्य परिभाषान्तरं यथा।
क्रियते शास्त्रभेदेन तथा तत्त्वेऽपि दृश्यताम् ॥१४॥
सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धम्मं' प्रजापतिः।
शक्तिर्माता शिवो विष्णू राम ओंकार एव च ॥१५॥
प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः।
तदेव तत्त्वं गीतायामहंशब्देन कथ्यते ॥१६॥

एक ही पदार्थ के लिए विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न पारिभाषिक शब्द नियत कर लिये जाते हैं। मूलतत्त्व के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

सत्य, ब्रह्म, परमधाम, कर्म, धम्म (धर्म), प्रजापति, शक्ति, माता, शिव, विष्णु, राम, ओम्, प्रेम इत्यादि सारे शब्द मूलतत्त्व के ही वाचक हैं; इसमें कोई संशय नहीं है। उसी मूलतत्त्व के लिए भगवद्गीता में 'अहम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

: ६१ :

बहिरन्तश्च सर्वत्र

सर्वव्यापक तत्त्व

"स ओतः प्रोतश्च" (यजु० ३२।८)

अर्थात्, वह मूल-तत्त्व सर्वत्र ओत-प्रोत हो रहा है।

बहिरन्तश्च सर्वत्र महिमेशस्य भासते।
चराचरस्य लोकस्य प्रवृत्तेरुद्भवो यतः ॥१॥

चराचर जगत् की प्रवृत्ति का उद्भव जिनसे हुआ है उन भगवान् की महिमा बाहर और भीतर सर्वत्र भासित हो रही है।

अदृश्यमपि यत्तत्त्वं लौकिकानामगोचरम्।
तदेव परितः स्पष्टं विबुधानां प्रतीयते ॥२॥

जिस परम-तत्त्व को सांसारिक लोग नहीं देख सकते वह अदृश्य होते हुए भी ज्ञानियों को सर्वत्र स्पष्ट प्रतीत होता है।

: ६२ :

परात्मतत्त्व एकस्मिन्

परमात्म-तत्त्व

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति" (कठोपनिषद् २।२।१२)

अर्थात्, सर्व भूतों का अन्तरात्मा परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपों में प्रतीत होता है।

पात्रभेदेन भिन्नाम्भः पिबन्नार्त्तः पिपासया।
यथा शान्तिमवाप्नोति नोक्तभेदेऽवसज्जते ॥१॥
तथैव तत्त्वविद् विद्वान् नानारूपेण पूजिते।
परात्मतत्त्व एकस्मिन् शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥२॥

जैसे पिपासा से आकुल मनुष्य विभिन्न पात्रों से पानी को पीकर अपनी प्यास को बुझा लेता है और इस बात की परवा नहीं करता कि किस पात्र से उसको पानी मिला है, इसी तरह तत्त्वज्ञानी उस एक ही परमात्मा में वास्तविक शान्ति को पाता है जिसको संसार में लोग भिन्न-भिन्न रूपों में पूजते हैं।

: ६३ :

मेघै रविरिवांशुमान्

मूलतत्त्व का साक्षात्कार

"नाशान्तो नासमाहितः" (कठोपनिषद् १।२।२३)

अर्थात्, अशान्त और असमाहित मनुष्य मूलतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

अन्तर्बहिश्च यत्तत्त्वं व्याप्तमानन्दरूपि तत्।
पूर्णमेकरसं शान्तं यस्यान्तर्निवसाम्यहम् ।।१।।

अन्दर और बाहर जो तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है वह आनन्दमय, अपने में पूर्ण, एकरस और शान्त है। उसी के अन्दर मैं रहता हूँ।

तथापि कियदाश्चर्यं यन्मोहेन समावृतम्।
वर्तते तन्मदीयेन मेघै रविरिवांशुमान् ।।२।।

तो भी बड़ा आश्चर्य है कि मेरे अपने ही मोह से वह तत्त्व, मेघों से प्रकाशमान सूर्य के समान, आवृत हो रहा है!

स्वस्थेन शान्तचित्तेन प्रसन्नेन निरन्तरम्।
शक्यतेऽनुभवस्तस्य कर्तुमेकाग्रबुद्धिना ।।३।।

स्वस्थ, शान्तचित्त, निरन्तर प्रसन्न रहने वाला, तथा एकाग्र बुद्धि वाला मनुष्य ही उस तत्त्व का अनुभव अथवा साक्षात्कार कर सकता है।

: ६४ :

गुहायां गूढमावृतम्

दुर्दर्श मूलतत्त्व

"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं .....।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥"
(कठोपनिषद् १।२।१२)

अर्थात्, कठिनता से देखे जाने वाले, अस्पष्ट रूप में सर्वत्र व्यापक, गुफा में रहने वाले देव को आध्यात्मिक साधना द्वारा जान कर बुद्धिमान् मनुष्य हर्ष और शोक की स्थिति से ऊपर उठ जाता है।

स्वयं प्रकाशमानं यत्तत्त्वं तस्य परात्मनः।
अनात्मनो विचाराणां गुहायां गूढमावृतम् ॥१॥

परमात्मा का स्वयं प्रकाशमान स्वरूप हमारे ऐसे विचारों की गुफा में जिनका आत्म-विकास से सम्बन्ध नहीं है गूढ़रूप में छिपा हुआ है।

तेषां सम्यङ् निरोधे तद् योगाभ्यासविधानतः।
स्वात्मनोऽभ्यन्तरे सद्यो ज्योतीरूपं समीक्ष्यते ॥२॥

योगाभ्यास की विधि से उन आत्म-विकास-विरोधी विचारों के सम्यक्तया निरुद्ध हो जाने पर परमात्मा का वह प्रकाशमान स्वरूप तत्काल अपने अन्दर दिखाई देने लगता है।

तत्त्वं तत् 'तत् त्वम्' इत्येवं श्रुत्या नेकत्र गीयते।
अत एवात्मतत्त्वज्ञैरात्मन्येवानुभूयते ॥३॥

उसी तत्त्व का 'तू वही है' इस प्रकार उपनिषदों में अनेकत्र गान किया गया है। इसीलिए आत्म-तत्त्वज्ञानी उस तत्त्व का अपने अन्दर ही साक्षात्कार करते हैं।

ऊपर अपने अन्दर परमात्मा के दर्शन का कथन किया है। नीचे के पद्यों में अपने से बाहर बाह्य जगत् में भी उसके दर्शन के उपाय का प्रतिपादन करते हैं—

अथ चेत्तस्य तत्त्वस्य दर्शनं स्वात्मनो बहिः।
अभीप्सितं तदाविष्टं जगदेतत्परात्मना ॥४॥
चराचरात्मकं सर्वं विष्णुनेति विभाव्यताम्।
तद्दर्शनेन तद्रूपं प्रत्यक्षमनुभूयताम् ॥५॥

पर यदि कोई अपने से बाहर बाह्य जगत् में ही परमात्मा के दर्शन करना चाहता है, तो उसको बारबार यही चिन्तन करना चाहिए कि इस चराचरात्मक समस्त विश्व में विष्णु[1] रूप से परमात्मा आविष्ट हो रहें हैं। इस प्रकार परमात्मा के शरीर-रूप अथवा विभूति-रूप इस बाह्य जगत् में ही परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि यथाविधि अभ्यास और संयम से अपने अन्दर तो परमात्म-तत्त्व का अनुभव किया ही जा सकता है, परन्तु बाह्य जगत् में भी उस तत्त्व का साक्षात्कार असंभव नहीं है। "रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः" (भगवद्गीता ७।८) (अर्थात्, जल में रस और चन्द्र-सूर्य में प्रभा भगवान् के ही रूप हैं) इस गीता के कथन के अनुसार तत्त्वज्ञानी समस्त चराचर जगत् में परमात्म-तत्त्व का साक्षात् अनुभव कर सकता है।

---

१. 'विष्णु' का अर्थ है 'सब जगत् में प्रविष्ट अर्थात व्यापक परमात्मा।

: ६५ :

भक्तेस्त्रैविध्यम्

भगवद्-भक्ति के तीन भेद

भगवद्गीता की प्रक्रिया के अनुसार यज्ञ, दान, तप आदि के समान परमात्म-तत्त्व या भगवान् की भक्ति के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन भेद किये जा सकते हैं। इन्हीं भेदों का स्पष्टीकरण नीचे के पद्यों में किया गया है—

योऽन्तरात्मा जगत् साक्षी सृष्टवानिदमद्भुतम्।
कल्याणार्थाय जीवानां तत्प्रसादाय केवलम् ॥१॥
कर्त्तव्यमिति यत्कर्म क्रियते नियतात्मभिः।
सिद्धयसिद्धयोः समैर्भूत्वा भक्तिः सा सात्त्विकी मता ॥२॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं समुत्साहः स्वकर्मसु।
श्रेयोऽभ्युदयसिद्धिश्च तस्याः फलमिहोच्यते ॥३॥

जगत् के साक्षिभूत जिन अन्तरात्मा भगवान् ने यह अद्भुत सृष्टि जीवों के कल्याणार्थ की है, केवल उनकी प्रसन्नता के लिए, सिद्धि तथा असिद्धि को बराबर समझने वाले, संयतात्मा मनुष्य कर्तव्य-बुद्धि से जो काम करते हैं वही सात्त्विकी भक्ति है।

उस भक्ति से मन की प्रसन्नता, सौम्यता, अपने कर्मों में उत्साह और निःश्रेयस तथा अभ्युदय की सिद्धि, ये प्राप्त होते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं प्रतार्य सकलं जगत्।
जीविकासाधनार्थं वा प्रेयोमार्गपरायणैः ॥४॥
लोकेशस्य प्रसादार्थमेवमुद्घोष्य सर्वतः।
क्रियते यः समारम्भो भक्तिः सा राजसी मता ॥५॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च समुद्वेगः स्वकर्मसु।
चित्तचञ्चलता चैव तस्याः फलमिहोच्यते ॥६॥

केवल स्वार्थ-तत्पर लोगों द्वारा, 'ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ही यह काम किया जा रहा है', प्रत्यक्षतः ऐसी सर्वत्र घोषणा करके, अपने सत्कार मान और पूजा के

लिए या जीविका-प्राप्ति के लिए, जगत् को धोखा दे कर, जो कार्य किया जाता जाता है, वह राजसी भक्ति कहलाती है।

इस भक्ति से मनुष्य में केवल दम्भ, दर्प, अभिमान, अपने कार्यों में अशान्ति तथा चित्तचञ्चलता, इनकी ही वृद्धि होती है।

समुत्सृज्य स्वकं कर्म मोहालस्यपरायणैः।
कर्मण्यकर्म पश्यद्भिरकर्मणि च कर्म यत् ॥७॥
नाम्नः संकीर्तनेनैव न तु कर्मसमाश्रयात्।
पूज्यते भगवान्नित्यं भक्तिः सा तामसी मता ॥८॥
निरुद्यमा निरुत्साहा हीनसत्त्वपराक्रमाः।
अनार्यजुष्टमार्गस्था जायन्ते तां समाश्रिताः ॥९॥

कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म समझने वाले आलसी लोगों द्वारा, अपने कर्तव्य की उपेक्षा करके, केवल नाम के संकीर्तन से, न कि निःस्वार्थ कर्म द्वारा, भगवान् की पूजा करना तामसी भक्ति है।

ऐसी भक्ति करने वाले, उद्यम, उत्साह तथा तेज और पराक्रम से विहीन हो कर, अनार्यसेवित मार्ग का अवलम्बन करते हैं।

मूल-तत्त्व के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि अनेक रूपों में उसको समझा और माना जा सकता है। अन्तरात्मा, अन्तर्यामी, या परमात्मा के रूप के अतिरिक्त, हम उसको जगद्धात्री महाशक्ति अथवा सर्वजगन्माता के रूप में भी मान सकते हैं। वास्तव में नाना सन्तापों से उद्विग्न मनुष्य माता के रूप में ही उसको देखना चाहता है। मानव-हृदय की कोमल भावनाओं को जितना अवकाश इस दृष्टि में मिलता है, उतना और दृष्टियों में नहीं। इसलिए नीचे के कुछ प्रकरणों में इसी रूप में मूल-तत्त्व के विषय में हम कथन करेंगे--

: ६६ :

नूनं सा प्रथमा बुद्धिः

जगद्धात्री महाशक्ति

"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (यजु० १३।४)

अर्थात्, वही परमात्मा पृथिवी और द्युलोक को धारण कर रहे हैं।

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्" (मुण्डकोपनिषद् २।२)

अर्थात्, वही परमात्मा, जो सर्वज्ञ और सर्वव्यापक हैं--

विश्व के धारण, पालन और व्यवस्था को करने वाली जगद्धात्री महाशक्ति के स्वरूप का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है--

विश्वमेतद् यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा।
नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम्॥१॥
तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम्।
चाल्यते हितभावेन तामेवाहं समाश्रये॥२॥

जो शक्ति इस विश्व को धारण और पालन कर रही है उसको निश्चय ही आद्या बुद्धि और चेतना के रूप में मानना चाहिए।

उसीके द्वारा ब्रह्माण्ड-पर्यन्त सारा विश्व इस प्रकार व्यवस्थित है कि उसकी सारी व्यवस्था को हेतु-पुरस्सर समझा जा सकता है। वही उसको हित के भाव से चला रही है।

मैं उसी मौलिक आद्या शक्ति का आश्रय लेता हूँ।

अभिप्राय यह है कि विश्व को धारण करने वाली एक महाशक्ति है, यह तो तत्काल समझ में आ जाता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि उसका सारा कार्य हेतु-पुरस्सर है और प्राणियों की हित-भावना से संचालित है। इसमें किसको संदेह हो सकता है कि विश्व की सारी व्यवस्था हेतु-पुरस्सर है। उदाहरणार्थ, यदि पृथिवी पर प्राणी हैं, तो उनके लिए वनस्पति और जल आदि की भी सृष्टि है। बच्चे के उत्पन्न होते ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है। इसीलिए उस महाशक्ति को आद्या बुद्धि और चेतना के रूप में मानना आवश्यक हो जाता है। उक्त उदाहरणों से ही यह भी मानना पड़ता है कि वह महाशक्ति हित-भाव से काम करने वाली अर्थात् प्रेम और कारुण्य से भी युक्त है। इसीलिए हम उसको 'सर्वजगन्माता' भी कह सकते हैं।

उपर्युक्त विषय का ही वर्णन दूसरे शब्दों में नीचे के पद्य में किया गया है—

यस्याः शक्तेः प्रभावेण विश्वमेतद्व्यवस्थितम् ।
वर्ततेऽभिन्नमर्यादं तामेवाहं समाश्रये ॥३॥

जिस शक्ति के प्रभाव से यह सारा विश्व इस प्रकार व्यवस्थित है कि उसमें सब पदार्थों और नियमों की मर्यादा ठीक-ठीक नियत है, मैं उसी का आश्रय लेता हूँ।

: ६७ :

यासौ प्रभामयी देवी

प्रभामयी देवी

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (कठोपनिषद् २।२।१५)

अर्थात्, उसी परमात्मा के प्रकाश से सब विश्व प्रकाशित है।

जगद्धात्री महाशक्ति का प्रभामयी देवी के रूप में वर्णन नीचे के पद्य में किया जाता है—

यासौ प्रभामयी देवी सर्वस्यान्तर्विराजते ।
मोहान्धकारखिन्नस्त्वं तस्याः शरणमाप्नुहि ॥१॥

मोहरूपी अन्धकार से खिन्न होने पर तू उस प्रभामयी देवी की शरण में जा, जो प्रत्येक प्राणी के, विशेषतः मनुष्य के, हृदय में विराजमान है।

व्याख्या

उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों में "य एवं वेद स एवं भवति" (अर्थात्, जो ऐसी भावना करता है वह ऐसा हो जाता है) प्रायः ऐसे वचन आते हैं। भगवद्-गीता में भी, 'मनुष्य पर अपनी भावनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है' इसी सिद्धान्त पर बल दिया है। आधुनिक मुहावरे में इसी सिद्धान्त को हम 'मनुष्य पर अपने आदर्शों का गहरा प्रभाव पड़ता है' इन शब्दों में भी कह सकते हैं। सारे मन्त्र-शास्त्र का रहस्य भी इसी सिद्धान्त में है।

इसलिए इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि मोह-रूपी अन्धकार से खिन्न व्यक्ति यदि सर्व शक्तियों के निधान भगवान् का, उस मूलतत्त्व का, प्रभामयी देवी के रूप में ध्यान और चिन्तन करेगा, तो उसे प्रकाश अवश्य ही मिलेगा। यही प्रभामयी देवी कवियों को स्फूर्त्ति देने वाली भगवती सरस्वती या शारदा हैं।

: ६८ :

दैव्या नावोह्यमानोऽहम्

दैवी नौका

"दैवीं नावम्.....आ रुहेमा स्वस्तये" (ऋग्० १०।६३।१०)

अर्थात्, हम कल्याण-प्राप्ति के लिए परमात्मा-रूपी नौका पर आरूढ़ हों।

उपर्युक्त भावना-मूलक सिद्धान्त के आधार पर ही, इस प्रकरण में परम-तत्त्व परमात्मा के कुछ अन्य रूपों का वर्णन किया गया है। उस उस रूप में ध्यान और चिन्तन को हम निश्चय ही 'सफल प्रयोग' कह सकते हैं।

१

जगद्धात्री महाशक्ति का स्नेहमयी माता के रूप में वर्णन—

यैषा सर्वमयी देवी मातृरूपेण वर्तते।
तस्याः क्रोडं समाश्रित्य वर्त्तेथास्त्वं गतव्यथः ॥१॥

यह जो सर्वमयी देवी माता के रूप में सर्वत्र विद्यमान है, तू अपनी सारी व्यथाओं को छोड़कर उसीकी गोद में आश्रय लेकर रह।

जैसे बच्चा माता की गोद में जाते ही अपनी सारी व्यथाओं को भूल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य को अपनी व्यथाओं को भूलकर 'मातृ-रूप परमात्मा की गोदी में मैं बैठा हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए। निस्सन्देह इस भावना से मनुष्य के हृदय को एक अपूर्व सान्त्वना और शान्ति प्राप्त होगी।

२

संसार-सागर की यात्रा के लिए अथवा आपत्ति-रूपी नदियों को पार करने के लिए नौका के रूप में वर्णन—

संसारसागरे यात्रां कर्तुकामोऽभयेन यः।
परात्मदेवतानौकामाश्रयेत् स प्रयत्नतः ॥२॥

जो मनुष्य निर्भय होकर संसार-रूपी सागर की यात्रा करना चाहता है उसको प्रयत्न-पूर्वक परमात्मा-रूपी नौका का सहारा लेना चाहिए।

दैव्या नावोह्यमानोऽहं सुतरामापदापगाः।
असंशयं तरिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥३॥

परमात्मा-रूपी नौका से ले जाया जाता हुआ मैं निस्सन्देह आपत्ति-रूपी नदियों को सरलता से पार कर जाऊँगा, इस विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं है।

३

हृन्मन्दिर में प्रतिष्ठित देवता के रूप में वर्णन—

महती देवता यैषा हृन्मन्दिर उपस्थिता।
तां ध्यायेच्छ्रद्धयोपेतो य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥४॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि वह अपने हृदय-रूपी मन्दिर में यह जो महती देवता उपस्थित है उसका श्रद्धा के साथ ध्यान करे।

महती देवता यैषा ह्यात्मनोऽभ्यन्तरे स्थिता।
आत्मानमर्पयेत्तस्यै क्षेमार्थी यो भवेन्नरः ॥५॥

जो मनुष्य कुशल चाहता है उसे चाहिए कि वह अपने को उस महती देवता के लिए अर्पण करदे जो अपने भीतर स्थित है।

: ६६ :

इदं श्रेयो न वा श्रेयः ?

परमात्मा की प्रेरणा

"अग्ने नय सुपथा" (यजु० ४०।१६)

अर्थात्, प्रकाशमान देव ! हमको ठीक मार्ग से ले चलिए।

इदं श्रेयो न वा श्रेय इत्यान्दोलनदोलितः।
नियन्तुर्जगतां पत्युरालम्बनमहं श्रये ॥१॥

'यह मार्ग ठीक (कल्याण-प्रद) है अथवा नहीं ?' इस प्रकार के संघर्ष-रूपी भूले से दोलायमान मैं सर्वनियन्ता विश्वपति परमात्मा के आश्रय को चाहता हूँ।

अद्य यावज्जगत्यस्मिन् स्वेच्छया जीवनं गतम्।
भविष्येऽभिलषामीशो भूयान्मे मार्गदर्शकः ॥२॥

इस जगत् में आज तक मेरा जीवन स्वेच्छा से व्यतीत हुआ है। मैं चाहता हूं कि भविष्य में भगवान् ही मेरे मार्ग-दर्शक हों।

तस्या देव्या महाशक्तेर्हस्त आत्मानमादधे।
ब्रह्माण्डस्तम्बपर्यन्तं यया संचाल्यते जगत् ॥३॥

॥ इति रश्मिमालायां **तत्त्वमीमांसा** नामाष्टमो रश्मिः ॥

मैं अपने को उस महाशक्ति देवी के अर्पण करता हूँ जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड से तृण-समूह-पर्यन्त यह सारा जगत् संचालित हो रहा है।

नवमो रश्मिः

अमृतस्य कला

अथवा

आयुषः पश्चिमे भागे

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति । न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
(केनोपनिषद् २।५)
"य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (कठोपनिषद् २।३।२)

●

नवम रश्मि

अमृत की कला

अथवा

जीवन के उत्तरार्ध में

इस जन्म में ही यदि परमतत्त्व को जान लिया है, तब तो ठीक है। यदि नहीं जाना है, तो बड़ी हानि है। (केनोपनिषद् २।५)
जो विश्व की समष्टिरूप ब्रह्म को जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं।
(कठोपनिषद् २।३।२) ।

: ७० :

आयुषः पश्चिमे भागे

शान्ति का उपाय

"सर्वं ॐ शान्तिः। शान्तिरेव शान्तिः" (यजु० ३६।१७)

अर्थात्, हमारे लिए सब कुछ शान्ति-दायक हो। हमारे लिए शान्ति ही शान्ति हो।

मनुष्य को शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पर शान्ति का मार्ग अकर्मण्यता में नहीं है, किन्तु अन्तरात्मा के अनुकूल कार्य करने में है, इसका प्रतिपादन नीचे के दो पद्यों में किया गया है--

आयुषः पश्चिमे भाग आत्मनो भूतिमिच्छता।
संत्यज्य व्यग्रतां सर्वां मनःशान्त्यै प्रयत्यताम् ॥१॥
मनःप्रसादनार्थाय यत्कार्यमुपयुज्यते।
अन्तःसाक्ष्येण संजुष्टं सुधिया तद्विधीयताम् ॥२॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे जीवन के अन्तिम भाग में सारी व्यग्रता को छोड़कर मन की शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

बुद्धिमान् मनुष्य को वही काम करना चाहिए जिसकी मन की प्रसन्नता के लिए उपयोगिता हो और जिसमें अन्तरात्मा के साक्ष्य की अनुकूलता हो।

अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य आत्मिक शान्ति चाहता है उसे वही काम करना चाहिए जिससे उसके मन में कोई मैल या क्षोभ पैदा न हो, और साथ ही जो उसकी अन्तरात्मा के अनुकूल भी हो।

: ७१ :

तद्विष्णोः परमं पदम्

जीवन की कृतार्थता

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" (ऋग्० १।२२।२०)

अर्थात्, विद्वान् ही जीवन के चरम-लक्ष्य-रूप भगवान् के परम-पद को सदा देखते हैं।

जीवनस्य परार्ध्येऽर्धे संस्थितोऽहं विलोकये।
विरजं शाश्वतं दिव्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१॥

जीवन के उत्तरार्ध या उत्कृष्ट भाग में खड़ा हुआ मैं सर्वव्यापक अथवा सर्वत्र ओत-प्रोत भगवान् के उस परम-पद को देख रहा हूँ जो परम उज्ज्वल, शाश्वत और दिव्य-स्वरूप है।

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई किसी ऊँचे स्थान पर खड़ा हो कर पर्वत के उज्ज्वल शिखर को देख सकता है, इसी प्रकार जीवन के अनुभवों से समृद्ध विद्वान् जीवन के अन्तिम भाग में सर्वत्र ओत-प्रोत भगवान् की महिमा को स्पष्ट अनुभव कर सकता है।

भुक्त्वा नानाविधान् भोगान् दृष्ट्वा दृश्यान्यनेकधा।
निरस्तविषयव्रातः परमार्थं विचिन्तये ॥२॥

नाना प्रकार के सांसारिक भोगों को भोगकर, अनेक प्रकार के दृश्यों को देखकर, अब मैं बाह्य विषयों के आकर्षण को हटाकर परमार्थ अथवा जीवन के वास्तविक लक्ष्य का चिन्तन करता हूँ।

संव्याप्य संस्थितं विश्वमानन्दैकनिकेतनम्।
संपश्यन्ननिशं मन्ये जीवनस्य कृतार्थताम् ॥३॥

समस्त विश्व में जो ओत-प्रोत हैं और आनन्द के जो एकमात्र निकेतन हैं उन भगवान् को बराबर देखते हुए मैं अब अपने जीवन को कृतकृत्य मानता हूँ।

अतिक्रम्येन्द्रियाध्वानं स्वस्था विश्रान्तचेतसः।
उपास्महेऽनिशं भक्त्या सर्वस्यार्त्तिहरं हरिम् ॥४॥

इन्द्रियों के मार्ग को समाप्त करके, स्वस्थ और शान्त-चित्त होकर, अब हम भक्ति-पूर्वक सब के कष्टों को हरने वाले भगवान् की बराबर उपासना करते हैं।

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई किसी सवारी से देव-दर्शन के लिए जाय और जहाँ तक सवारी जा सकती है वहाँ पहुँच कर सवारी को छोड़ दे और मार्ग-श्रम को दूरकर स्वस्थ होकर देवता की उपासना में लग जाय, इसी प्रकार इन्द्रियरूपी घोड़ों की सहायता से जीवन की सांसारिक यात्रा को समाप्त करके मनुष्य को अन्त में जीवन के लक्ष्य-भूत भगवान् के भजन और चिन्तन में लग जाना चाहिए।

: ७२ :

दुर्लभं मानुषं जन्म

मनुष्यजन्म दुर्लभ है

दुर्लभं मानुषं जन्मामूल्य एकोऽपि तत्क्षणः।
तथापि काकिणीतुल्यं तद्व्ययं कुर्वते जनाः!॥१॥

मनुष्य का जन्म दुर्लभ है। उसका एक क्षण भी अमूल्य है। तो भी, बड़ा आश्चर्य है मनुष्य कौड़ियों के समान उसका व्यय करते हैं!

: ७३ :

सौभाग्यं किमतः परम् ?

भगवान् का धन्यवाद

नौकरी के जीवन से अवकाश लेने पर, जीवन के वास्तविक लक्ष्य को समझने वाले विचार-शील मनुष्य के भावों का दिग्दर्शन नीचे के पद्यों में किया गया है--

बुभुक्षापीडितः कश्चिद् दुर्भिक्षाद्युग्रसंकटे।
रत्नाद्यमूल्यवस्तूनि विक्रीणीते यथावशः ।।१।।
तथैव हन्त ! लोकेऽस्मिन् स्थित्या परवशो जनः।
अमूल्यं समयं स्वीयं विक्रीणीते न संशयः ।।२।।

जैसे कोई धनी व्यक्ति दुर्भिक्ष आदि के महान् संकट में भूख से पीड़ित होकर बेबसी के कारण अपने घर की रत्न आदि अमूल्य वस्तुओं को बेच देता है, इसी प्रकार यह खेद का विषय है कि निस्संदेह स्थिति से परवश होकर ही मनुष्य इस संसार में अपने अमूल्य समय को बेचता है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य के जीवन में समय अमूल्य वस्तु है। फिर भी स्थिति-वश होकर वह उसे थोड़े-बहुत मूल्य में बेच देता है।

कदाचिदधिगम्येत ततः परवशस्थितेः।
मुक्तिश्चेन्मनुजेनेह सौभाग्यं किमतः परम् ! ।।३।।

पर यदि किसी अवस्था में उसे उस बेबसी की स्थिति से छुटकारा मिल जाय, तो इससे अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है !

धन्योऽहं पुण्यवानस्मि प्रसन्नं मम दैवतम्।
यत्कृपाकारणाद् वर्त्ते स्वतन्त्रः समये स्वके ।।४।।

मैं धन्य हूँ, मैं पुण्यवान् हूँ, भगवान् मुझ पर प्रसन्न हैं जिनकी कृपा से अब मैं अपने समय के विषय में स्वतन्त्र हूँ। अर्थात्, अब मैं अपने अमूल्य समय को किसी मूल्य पर बेचने के लिए विवश नहीं हूँ।

: ७४ :

योगेनान्ते तनुत्यजः

जीवन की परीक्षा

नीचे के पद्यों में जीवन की परीक्षा का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है—

प्राणप्रयाणकालो यः परीक्षायाः क्षणो महान्।
तदर्थं यत्नमातिष्ठेद् यावज्जीवं सुधीर्नरः ॥१॥

प्राणों के प्रयाण का समय महान् परीक्षा का अवसर होता है। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन भर उसके लिए यत्न करे।

यावन्त्यपि हि कर्माणि बुद्ध्या कुर्वन्ति मानवाः।
पाठ्य-पुस्तकरूपाणि तान्येवमवधार्यताम् ॥२॥

मनुष्य अपने जीवन में बुद्धि-पूर्वक जितने भी काम करते हैं उनको ही उक्त परीक्षा का पाठ्य पुस्तक समझना चाहिए।

जीवनस्य परीक्षायामुत्तीर्णानां मनीषिणाम्।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतिर्जायते ध्रुवम् ॥३॥

विचारशील मनुष्य ही जीवन की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, और इस उत्तीर्णता से निश्चय ही उनकी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति होती है।

ततश्च जीवनेऽनास्था प्रमादोऽनवधानता।
आत्मतत्त्वविदो नैव कदाचिदुपपद्यते ॥४॥

इसी लिए जो आत्मा के स्वरूप को जानता है वह जीवन के विषय में अनास्था, प्रमाद या असावधानी कभी नहीं कर सकता।

प्रत्येकं कर्मणश्चिन्ता विवेकेन ततः स्मृता।
स्वचारित्र्यसमीक्षाया उपयोगस्ततो महान् ॥५॥

इसी लिए शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य को जीवन में प्रत्येक कर्म विवेक-पूर्वक सोच-समझकर करना चाहिए। इसी लिए जीवन में अपने चरित्र की समीक्षा अथवा आत्म-परीक्षण का बड़ा भारी उपयोग है।

प्रकृतेर्नियमा नित्याः साक्ष्यं चैवान्तरात्मनः।
सतामाचरणं शास्त्रं तत्रैते गुरवः स्मृताः ॥६॥

जीवन की परीक्षा की तय्यारी में निम्न-लिखित चार गुरु कहे गये हैं—(१)प्रकृति के स्वाभाविक नित्य नियम, (२)अन्तरात्मा का साक्ष्य, (३) सत्पुरुषों का आचरण, और(४)शास्त्र अथवा सत्साहित्य।

गृह्णन्नथाचरंस्तेषामुपदेशानतन्द्रितः।
योगी वै कथ्यते, यस्माद् "योगः कर्मसु कौशलम्"[१] ॥७॥

उपर्युक्त चार गुरुओं के उपदेशों को तत्परता के साथ जो ग्रहण करता है और तदनुकूल आचारण करता है उसीको वास्तव में योगी कहा गया है, क्योंकि कर्मों के करने में कुशलता को ही योग कहते हैं ।

योगेनैतादृशेनेह ये भवन्त्यात्मदर्शिनः।
धीरास्त एव कीर्त्यन्ते "योगेनान्ते तनुत्यजः"[२] ॥८॥

इस प्रकार के कर्म-योग द्वारा जो आत्मा के (या अपने) वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं ऐसे ही बुद्धिमानों के विषय में कहा जाता है कि वे जीवन के अन्तिम समय खिन्न नहीं होते और प्रसन्नता-पूर्वक योग-द्वारा अपने शरीर को छोड़ देते हैं।

तदेतज्जीवनस्याहुर्विज्ञा मुख्यं प्रयोजनम्।
तल्लाभे तस्य साफल्यमलाभे व्यर्थता श्रुता ॥९॥

विज्ञ लोग कहते हैं कि जीवन की परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही जीवन का मुख्य प्रयोजन है। उस प्रयोजन की सिद्धि में ही जीवन की सफलता, और सिद्धि न होने में ही उसकी व्यर्थता वेदादि शास्त्रों में कही गयी है।

ततः स्वकर्मपरमा अन्तकाले परीक्षिताः।
प्रसन्नचेतसोऽमूढाः प्रयान्ति परमं पदम् ॥१०॥

इसलिए जो मनुष्य अपने कर्तव्य के पालन में सावधानता के साथ तत्पर रहते हैं वे ही जीवन के अन्तिम समय परीक्षित होकर प्रसन्नचित्त परमपद को प्राप्त होते हैं।

---

१. तु० "योगः कर्मसु कौशलम्" (भगवद्गीता २।५०)।
२. तु० "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" (रघुवंश १।८)। तथा ,"प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः" (भगवद्गीता ७।३०)।

: ७५ :

आत्मनः स्वं महत्तेजः

जीवन का लक्ष्य

मनुष्य के जीवन का वास्तव में क्या लक्ष्य है और उस की प्राप्ति का क्या उपाय है, इस विषय में नीचे दो पद्य दिये जाते हैं--

वृत्तयो निस्सरन्त्योऽमूः स्फुलिङ्गा इव वह्नितः।
आत्मनोऽनारतं शक्तिं विक्षिपन्ति समन्ततः।।१।।
तासां जाते निरोधे तु क्रमशोऽध्यात्मचेतसः।
आत्मनः स्वं महत्तेजः स्थिररूपेण भासते ।।२।।

अग्नि से निकलती हुई चिनगारियों के समान, आत्मा से निकलती हुई वृत्तियाँ उसकी शक्ति को सब ओर बखेरती रहती हैं।

जिस मनुष्य का चित्त आत्मा की ओर झुक चुका है उस की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर आत्मा का अपना महान् तेजस्वी स्वरूप स्थिर रूप से भासित होने लगता है।

व्याख्या

ऊपर के पद्यों के विचारों को हम चार अंशों में बाँट सकते हैं। अर्थात्, (१) आत्मा ही वास्तव में शक्ति का केन्द्र है, (२) अव्यवस्थित ढग से जहाँ तहाँ भटकती हुई वृत्तियों से हम अपनी शक्ति को बराबर नष्ट करते रहते है, (३) पर अध्यात्म-तत्त्व को जानने वाला मनुष्य क्रमशः उन वृत्तियो का निरोध कर सकता है, और (४) वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर आत्मा का अपना महान् तेजस्वी स्वरूप स्थिर रूप से भासित होने लगता है।

वास्तव में योगशास्त्र का सारा रहस्य इन पद्यों में आ गया है। साधारणतया लोगों की ऐसी धारणा है कि योग कोई ऐसी विद्या या रहस्य है जिसका अभ्यास या साधना केवल वे ही लोग कर सकते है जिन्होंने संसार से सम्बन्ध बिल्कुल पृथक् कर लिया है और जो एकान्तवासी बन गये है।

पर वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जीवन एक बहती हुई नदी की धारा के समान है। यदि उस धारा के किसी अंश को उससे पृथक् किया जायगा तो वह विकृत हुए बिना नहीं रह सकता।

जिस प्रकार सांसारिक जीवन में कर्तव्यों के ठीक-ठीक पालन के लिए य आवश्यक है कि मनुष्य अपने शरीर को शारीरिक व्यायाम द्वारा हृष्ट-पुष्ट रखे, इसी प्रकार जीवन में अपने कर्तव्यों के समुचित पालन के लिए ही यह भी आवश्यक है कि मनुष्य योग के रहस्य को समझ कर उसके द्वारा अपने अध्यात्म-जीवन को स्वस्थ और समुन्नति-शील बनाये रखे।

स्मरण रखना चाहिए कि हमारा सारा जीवन किसी विद्यार्थी के जीवन से भिन्न नहीं है। क्योंकि विद्यार्थी के जीवन की तरह ही, हमारे जीवन का भी एकमात्र लक्ष्य यही है कि हम विकास के मार्ग पर बराबर अग्रसर होते रहें। इसी लिए योग (जिस को अध्यात्म-जगत् का स्वास्थ्य-विज्ञान कहा जा सकता है) की आवश्यकता प्रत्येक समझदार मनुष्य को है।

योग का सब से बड़ा आधार इस सिद्धान्त पर है कि हम यह जानें कि जड़ और चेतन के मेल से चलने वाले इस संसार के और उसके सारे व्यापारों के मूल में काम करने वाली सारी शक्ति का एकमात्र केन्द्र या उद्गम आत्मा ही है। इसीलिए सारी प्रेरणाओं और सफलताओं का मूल, सच्चे अर्थों में, आत्म-विश्वास में है।

यह कितनी मूर्खता की बात है कि उसी शक्ति का, जिसकी एक एक प्रेरणा में सारे विश्व को हिला देने की क्षमता है, हम अनजान में घोर अपव्यय करते रहते हैं।

हमारे सारे संकल्प-विकल्प, सारे विचार, सारे अनुभव वृत्तियों के अन्तर्गत आ जाते हैं। सोचने की बात है कि क्या हमारी सारी वृत्तियाँ किसी व्यवस्थित ढंग से काम करती हैं? संकल्प-विकल्पों के, अपने पुराने स्मरणों के, और मनोरथों के भँवर में बुरी तरह फँसे हुए, उनके प्रवाह में बहते हुए, क्या हम कह सकते हैं कि हम अपनी आत्मा की शक्ति का उचित उपयोग और प्रयोग कर रहे हैं।

हमारे अधिकतर विचार निरर्थक ही नहीं, कष्ट-कर भी, होते हैं। यह ऐसा ही है जैसे कि टूटे छिद्र वाले बरतन से उसमें भरा अमृत व्यर्थ में टपकता रहे, या कोई धनी निष्प्रयोजन अपने रुपये-पैसे को लुटाता रहे। जिस अग्नि से बराबर चिनगारियाँ निकल रही हैं वह जल्दी ही समाप्त हो जायगी। परन्तु वह हीरा जो अपने स्वरूप में स्थिर है सदा ही चमकता रहेगा।

इसलिए जो यह समझते हैं कि हमारी सारी शक्तियों का मल उद्गम-स्थान आत्मा ही है, साथ ही जिनका यह विश्वास है कि परमात्मा की प्राप्ति या साक्षात्कार का एकमात्र 'द्वार' आत्मा ही है, उनका कर्तव्य हो जाता है कि वे उस आत्मा की शक्ति का संचय करें, न कि अपव्यय। जिसने अन्तरवेक्षण द्वारा इस परम तथ्य को समझ लिया है, उसको सतत इसका प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने विचारों,

अपने संकल्प-विकल्पों और अपने मनोरथों पर पूरा पूरा अधिकार प्राप्त करे। ऐसे विवेकी को चाहिए कि वह उतना ही सोचे और वही सोचे, जिसकी उपयोगिता और आवश्यकता है। यह बड़ी कठिन बात है। पर अभ्यास से यह अवस्था प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त अभ्यास से ही हम क्रमशः अनुभव करेंगे कि हमारे विचारों में, हमारे संकल्पों में, अमोघ शक्ति का उदय हो रहा है। शनैः शनैः हमें आत्मा की स्वस्थता (अपने स्वरूप में स्थिति) का, या आत्मा के प्रकाशमान स्वरूप का भान होगा, जिसमें शाश्वत शान्ति की झलक होगी।

निश्चय ही संसार में रहते हुए हम इस मार्ग पर प्रगति कर सकते हैं। जीवन का इससे उत्कृष्टतर और क्या लक्ष्य हो सकता है? वेदों में यही तथ्य इन शब्दों में कहा गया है--

"तमेव विदित्वातिमत्युमेति"

अर्थात्, आत्मा के स्वरूप को जान कर ही मनुष्य मृत्यु से अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है।

: ७६ :

बुद्धेर्नट्या विलासेभ्यः

आत्मा की गुहा

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥"
(कठोपनिषद् २।३।१०)

अर्थात्, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल हो जाती हैं, और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है, उसे समाधि की परम अवस्था कहते हैं।

बुद्धेर्नट्या विलासेभ्य उपराममुपेयुषः।
भावानां नटरूपाणां नाट्येन श्रान्तचेतसः॥१॥
सुखदुःखक्षयो यत्र सर्ववृत्तिलयस्तथा।
आनन्दैकरसे तत्र समाधावुत्कता मम॥२॥

बुद्धिरूपी नटी के विलासों से उपरत होकर, तथा नटरूपी भावों के नाटच से श्रान्त-चित्त होकर, सुख-दुःख दोनों का जिसमें अभाव है, मन की सारी वृत्तियों की जिसमें समाप्ति हो जाती है, और जिसमें केवल एक आनन्द-रस का प्रवाह है, ऐसी समाधि के लिए मैं उत्सुक हो रहा हूँ।

इतस्ततो निरुद्देशं यथोन्मत्तः प्रधावति।
वृत्तिभिर्नीयमानस्य तथा चित्तस्य मे स्थितिः ॥३॥

जैसे एक उन्मत्त मनुष्य बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर दौड़ता है, वृत्तियों से इधर-उधर भटकने वाले मेरे मन की वैसी ही स्थिति हो रही है।

निरर्थकं व्ययं दृष्ट्वानन्तस्यापि निधेर्यथा।
श्रेष्ठिनोऽपि स्वकीयस्य चिन्ता समुपजायते ॥४॥
एवं वृत्तिप्रवाहैस्तु क्षीयमाणात्मसंपदः।
ममापि जायते चिन्ता चित्तस्वास्थ्यविनाशिनी ॥५॥

जैसे एक महाधनी सेठ को अपनी अनन्त निधि के भी निरर्थक व्यय को देखकर चिन्ता हो जाती है, इसी प्रकार अपनी आत्मा की संपत्ति के नाश को देखते हुए मुझे भी चित्त की शान्ति को नष्ट करने वाली चिन्ता हो रही है।

आत्मानमात्मना पश्यन् गुहायामात्मनः स्थितः।
विश्रान्तिमुपगच्छेयमित्यौत्सुक्यमतीव मे ॥६॥

इस लिए मुझे तीव्र उत्सुकता हो रही है कि मैं आत्मा की गुफा में स्थित होकर केवल अपने को अपने से देखता हुआ विश्रान्ति को प्राप्त करूँ।

: ७७ :

स्वास्थ्यं तन्महदात्मनः

आत्मा की स्वस्थता

निद्रायाश्च समाधेश्च विद्यते महदन्तरम्।
निद्रायां तमउद्रेकाच्चैतन्यमभिभूयते ॥१॥
समाधावथ चैतन्यं स्वरूपावस्थितं मतम्।
वृत्तीनामुपरोधेन स्वास्थ्यं तन्महदात्मनः[1] ॥२॥

निद्रा और समाधि में बड़ा अन्तर है। निद्रावस्था में तमोगुण की अत्यधिकता से चैतन्य बहुत कुछ दब जाता है।

समाधि की अवस्था में चित्तवृत्तियों के उपरोध के कारण चैतन्य अपने स्वरूप में स्थित रहता है। इसीको आत्मा की विशुद्ध स्वस्थता समझना चाहिए।

: ७८ :

विश्रान्त्यै विहगो यथा

दैनिक विश्रान्ति

देशदेशान्तरं गत्वा दृष्ट्वा दृश्यान्यनेकधा।
निजनीडं समायाति विश्रान्त्यै विहगो यथा ॥१॥
लोकयात्राप्रवृत्तोऽपि कामं कार्यवशात्तथा।
आत्मनोऽन्तःप्रविष्टस्त्वं प्रत्यहं शान्तिमाप्नुहि ॥२॥

जैसे पक्षी प्रातःकाल के अनन्तर दिन में देश-देशान्तरों में जाकर और अनेक प्रकार के दृश्यों को देखकर विश्राम के लिए सायंकाल अपने घोंसले में आ जाता है, इसी प्रकार अयि मनुष्य! भले ही तुझे विशेष कार्य से सांसारिक जीवन में प्रवृत्त होना पड़े, तो भी तू प्रतिदिन आत्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर, अर्थात् एकाग्र-चित्त होकर, आध्यात्मिक साधना करता हुआ, शान्ति को प्राप्त कर।

---

१. तु० "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्ति-सारूप्यमितरत्र। (योगसूत्र १।२-४)

: ७६ :

कामकामी न शान्तिभाक्

कामकामी को शान्ति कहाँ ?

"शान्तिमाप्नोति न कामकामी" (भगवद्गीता २।७०)।

अर्थात्, विषयों की कामनाओं में फँसा हुआ शान्ति को नहीं पाता।

स्वल्पेऽपि कारणे हर्षमुद्वेगं मोहमेव वा।
भजमानो विमूढात्मा कामकामी न शान्तिभाक् ॥१॥

विषयों की कामनाओं में ग्रस्त मनुष्य, जो अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता, थोड़े-से कारण से भी हर्ष, उद्वेग, अथवा मोह को प्राप्त हो जाता है और इसी कारण शान्ति को नहीं पाता।

तरङ्गैरुह्यमानस्य विवशस्य कथा यथा।
तथा भावतरङ्गौघैर्विक्षिप्तानां कथा नृणाम् ॥२॥

किसी बड़ी नदी की ज़ोरदार तरंगों में विवश होकर बहने वाले मनुष्य की जैसी दयनीय दशा होती है, वैसी ही दशा उन लोगों की होती है जो अपने स्वरूप में स्थित न रह सकने के कारण भावरूपी तरंगों के प्रवाहों से इधर उधर फेंके जाते हैं।

ये पुनर्वशिनो धीराः स्वरूपे समवस्थिताः।
साक्षिरूपेण भावानां त ईक्षन्ते गमागमौ ॥३॥

परन्तु जो धीर मनुष्य स्वरूप में स्थित रहते हुए अपनी वृतियों को अपने वश में रखते हैं, वे भावों के आने और जाने को (अर्थात् उनके आविर्भाव और तिरोभाव को) एक साक्षी के समान ही तटस्थ भाव से देखते हैं। अर्थात्, उनके कारण हर्ष, उद्वेग, और मोह से प्रभावित नहीं होते।

तरङ्गिणीस्तरीतुं यः कलां जानाति तत्त्वतः।
क्रीडन्निवाभयः शान्तो नद्याः पारमुपैति सः ॥४॥

जो मनुष्य नदियों के तैरने की कला से वस्तुतः परिचित है, वह किसी भी नदी को निर्भय तथा बिना घबड़ाहट के, मानो खेलता हुआ, पार कर जाता है।

: ८० :

तदेव वस्तुतो द्वारम्

ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार

मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान के उद्देश्य से बड़े बड़े शास्त्रार्थ और विवाद करते हैं। पर वास्तव में ब्रह्म-ज्ञान का एकमात्र साधन निर्मल, सात्त्विक और प्रसन्न चित्त ही है। इसी का प्रतिपादन नीचे के दो पद्यों में किया गया है।

विरजं वितमस्कं च प्रसन्नं यद्धि मानसम्।
तदेव वस्तुतो द्वारं ब्रह्मकोशस्य दृष्टये ॥१॥

रजोगुण और तमोगुण के विकारों से रहित और प्रसाद-गुण से युक्त जो मन है, वही वास्तव में ब्रह्म-रूपी कोश को देखने का द्वार है। यही नहीं, अपि तु—

विशुद्धसच्चिदानन्दरूपं यद् ब्रह्मणो मतम्।
प्रसन्नं निर्मलं चित्तं प्रमाणं तत्र केवलम् ॥२॥

यह जो माना जाता है कि विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द ही ब्रह्म का रूप है, इसको सिद्ध करने के लिए प्रसन्न और निर्मल चित्त ही प्रमाण है। अर्थात् ऐसे चित्त के बिना ब्रह्म के स्वरूप को कोई समझ ही नहीं सकता।

: ८१ :

दृष्टी द्वे जगतो मते

व्यष्टि और समष्टि

व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च दृष्टी द्वे जगतो मते।
प्रथमा तत्र मन्दानां द्वितीया तत्त्वदर्शिनाम् ॥१॥

व्यष्टि की दृष्टि और समष्टि की दृष्टि, इस प्रकार जगत् के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ मानी गयी हैं। इनमें से पहली मन्दबुद्धियों की है, और दूसरी तत्त्व-दर्शियों की।

दुःखानां मूलमाख्यातो व्यष्टिभावो महर्षिभिः।
समष्टावेकतानत्वे तदभावोऽवतिष्ठते ॥२॥

महर्षियों ने कहा है कि व्यष्टि-भाव दुःखों का मूल है, और दुःखों का अभाव समष्टि के साथ एकतानता अथवा तादात्म्य में रहता है।

व्याख्या

समस्त उपलभ्यमान पदार्थों को व्यष्टि और समष्टि के दो रूपों में हम देख सकते हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियों को व्यष्टि समझना चाहिए। एक ही तरह की व्यष्टियों के समस्त (देश-भेद तथा काल-भेद से) समुदाय में एकत्व की भावना को ही समष्टि-दृष्टि कह सकते हैं। एक एक आम, आम की व्यष्टि है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान के समस्त आम, एकत्व की भावना के साथ में, आम की समष्टि है। व्यष्टियाँ नाश को प्राप्त होती रहती हैं। समष्टि सदा रहती है और कालान्तर में व्यष्टियों को जन्म देती है। साधारण बुद्धि के मनुष्य के लिए व्यष्टि का ही महत्त्व होता है, वह समष्टि को समझता भी नहीं। पर तत्त्वदर्शी की तृप्ति विनशन-शील व्यष्टियों से नहीं होती। वह अनेकों में एकत्व की और अनित्यों में नित्य की खोज करना चाहता है। समष्टि ही ऐसी वस्तु है। व्यष्टियाँ विनशन-शील और अस्थिर होने के कारण स्वभावतः दुःख का मूल होती हैं। उस दुःख का अभाव समष्टि-भावना में ही हो सकता है। व्यष्टि-रूप हम सब जीवात्माओं की समष्टि परमात्मा के रूप में ही समझी जा सकती है। व्यष्टि के अस्तित्व का मूल उसकी समष्टि में होता है। इसीलिए उसके जीवन का सार्थक्य समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही है। यही मनुष्य के जीवन के सार्थक्य का रहस्य है। व्यष्टि को समष्टि के लिए अपनी बलि देनी पड़ती है। इसी की व्याख्या नीचे के पद्यों में की गयी है——

: ८२ :

समष्टिर्ब्रह्म मन्यताम्

ब्रह्म में समष्टि-दृष्टि

प्रकृत्यैव जनाः सर्वे गाने वाद्ये च सस्पृहाः।
ग्राम्यो वापि बुधो वापि बालो वा वृद्ध एव वा ॥१॥
प्रवर्तते स्वभावेन गाने वाद्येऽप्यशिक्षितः।
मौलिके कारणे तत्र मीमांसायां हि नो मतम् ॥२॥

स्वभाव से ही सब मनुष्य गाने-बजाने को पसन्द करते हैं। गँवार हो, बुद्धिमान् हो, बालक हो, या वृद्ध हो, बिना सिखाया हुआ भी, स्वभाव से गाना और बजाना चाहता है। इसका मौलिक कारण क्या है? यह एक विचारणीय विषय है। इस विषय में हमारा जो मत है वह यह है--

व्यष्टेर्यद्वर्तनं तत्र वैषम्येण पदं कृतम्।
समष्टौ सामरस्यं तु नूनं तस्याः स्वभावजम् ॥३॥
व्यष्टौ व्याकुलता तस्माद्वैषम्यादेव जायते।
आनन्दैकरसो रूपं समष्टेर्मन्यते पुनः ॥४॥

व्यष्टि स्वभाव से ही परिवर्तन-शील या विनशन-शील होती है, इसलिए उसमें विषमता अवश्य रहती है। समष्टि अपने रूप में स्थिर रहती है, इसीलिए उसमें समरसता अथवा एकरूपता स्वाभाविक होती है।

व्यष्टि-रूप मनुष्यों में जो व्याकुलता, आकुलता या व्यग्रता पायी जाती है उसका कारण उपर्युक्त विषमता ही है।

एकरसता या सामरस्य से रहने वाली समष्टि में तो एक-मात्र आनन्द-रस का ही प्रवाह बहता है।

व्यष्टिरूपा वयं जीवाः समष्टिर्ब्रह्म मन्यताम्।
ब्रह्मणा तेन सायुज्यं सहास्माकमभीप्सितम् ॥५॥

हम सब जीव व्यष्टि रूप ही हैं। हम सब व्यष्टियों की समष्टि को ही ब्रह्म मानना चाहिए। इसीलिए तो हम सब ब्रह्म के साथ सायुज्य को सदा चाहते हैं। हम सब नित्य शाश्वत आनन्द को चाहते हैं, यही तो दूसरे शब्दों में ब्रह्म-सायुज्य कहा जाता है।

गाने वाद्ये प्रवृत्तस्य व्यष्टेर्भानं विलीयते।
समष्टौ, तेन दृश्यन्ते मानवास्तत्र सस्पृहाः ॥६॥

ऊपर के व्यष्टि और समष्टि के विमर्श की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि गाने-बजाने में जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसको उस समय के लिए अपनेपन का भान नहीं रहता, दूसरे शब्दों में व्यष्टि की व्यष्टित्व-भावना उस समय के लिए समष्टि की सामरस्य की धारा में विलीन हो जाती है। यही कारण है कि सब मनुष्य गाने-बजाने को पसन्द करते हैं।

: ८३ :

तद्वै ब्रह्मपदं प्रोक्तम्

ब्रह्म-निर्वाण

कोऽहं कुतः समायातः कुत्र गन्तास्मि चान्ततः।
परम्परागता एते प्रश्ना अद्याप्यवस्थिताः ॥१॥

मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और अन्त में कहाँ जाऊँगा? ये प्रश्न प्राचीन काल से चले आ रहे हैं और आज भी उपस्थित हैं, अर्थात् इनका समाधान नहीं हुआ है।

तैर्थिकानां विवादस्य बाहुल्यं तत्र विद्यते।
बुद्धेः प्ररोचना सा स्यात् तद्विलासोऽपि वा भवेत् ॥२॥
परं नैकान्तिकं ज्ञानमस्पृष्टं संशयेन यत्।
न चापि मानसी तुष्टिस्तत उत्पद्यते नृणाम् ॥३॥

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तकों के विवादों का बाहुल्य प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। उसको हम बुद्धि का प्रदर्शन या विलास ही कह सकते हैं।

क्योंकि, वास्तव में उस विवाद से न तो मनुष्यों को ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान ही होता है जिसमें संशय की गन्ध भी न हो, और न उनके मनको सन्तोष ही होता है।

एवं भवतु मा वा भूद्, अन्तःसाक्ष्येण मे मतम्।
मदीया व्यष्टिरेषा या समष्ट्या सा नियन्त्रिता ॥४॥
तयानुप्राणिता नित्यं विद्यते नात्र संशयः।
कल्याणं च तया तस्याः सामञ्जस्येन वर्तते ॥५॥

उक्त विषय में ऐसी बात हो या न हो, मैं तो अपनी अन्तरात्मा के साक्ष्य के आधार पर यही मानता हूँ कि मेरी जो यह व्यष्टि है वह निस्सन्देह समष्टि से नियन्त्रित है तथा सदा उसीसे अनुप्राणित रहती है, और यह कि मेरी व्यष्टि का कल्याण समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही है।

तद्वै ब्रह्मपदं प्रोक्तमद्वैतं शाश्वतं परम्।
तदेतत्तत्त्वतो ज्ञात्वा ब्रह्मनिर्वाणमश्नुते ॥६॥

इसी सामञ्जस्य को उत्कृष्ट ब्रह्म-पद कहा गया है। वह द्वैत की भावना से रहित है और शाश्वत है।

इस रहस्य को तात्त्विक दृष्टि से जानने वाला ब्रह्म-निर्वाण अथवा ब्रह्म-सायुज्य को पा लेता है।

: ८४ :

यासौ ब्राह्मी स्थितिर्मता

ब्राह्मी स्थिति

द्वैविध्यमात्मनः प्राहुरात्मज्ञा ये मनीषिणः।
एकोऽहंकारसंमूढः स्वरूपे संस्थितोऽपरः ॥१॥

आत्मा के तत्त्व को जानने वाले मनीषियों का कहना है कि आत्मा की दो अवस्थायें होती हैं। एक अवस्था में वह अहंकार के कारण अपने को भूला हुआ रहता है, और दूसरी अवस्था में वह अपने रूप में स्थित होता है।

पूर्वः स्वभावतोऽल्पज्ञो मन्दशक्तिश्च दुःखभाक्।
द्वितीयोऽनन्तशक्तीनां केन्द्रमानन्द एव च ॥२॥

इनमें से पहली अवस्था में रहनेवाला स्वभाव से अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और दुःखों में ग्रस्त होता है।

दूसरी अवस्था में रहनेवाला, अर्थात् अपने रूप में स्थित आत्मा, अनन्त शक्तियों का केन्द्र और आनन्द-रूप ही होता है।

ततोऽहंकारपाशांस्त्वं छित्वा स्वातन्त्र्यमाप्नुहि।
स्वाराज्यमात्मनः स्वास्थ्यं यासौ ब्राह्मी स्थितिर्मता ॥३॥

इसलिए तुझको चाहिए कि तू आत्मा को बाँधने वाले अहंकार के फांसों को काटकर स्वतन्त्रता को प्राप्त करे। उसी स्वतन्त्रता को आत्मा का स्वराज्य, तथा आत्मा का स्वास्थ्य या स्वरूप-स्थिति समझना चाहिए। इसी को ब्राह्मी स्थिति मानते हैं।

: ८५ :

प्रदीपा इव भासन्ते

किसी का अपमान न करो

"यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।"
(श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१५)

अर्थात्, जब योगी प्रदीप के समान वर्तमान आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है तभी.....।

ब्रह्म की समष्टि पर दृष्टि रखने वाले मनीषी की ओर से नीचे के पद्य कहे गये हैं--

सर्वेऽमी प्राणिनः साक्षान्मानवास्तु विशेषतः।
प्रदीपा इव भासन्ते दीपिता ब्रह्मतेजसा॥१॥

इधर-उधर घूमने वाले ये समस्त प्राणी, मनुष्य तो विशेष कर, मुझे ब्रह्म के तेज से भासित प्रदीपों के समान प्रतीत होते हैं।

भास्वरं तन्महत्तेजो ब्रह्मणो नः समन्ततः।
चैतन्यरूपतापन्नं प्राणिमात्रे प्रकाशते॥२॥[1]

ब्रह्म का प्रकाशशील वह महान् तेज ही चैतन्यरूप में हमारे चारों और प्रत्येक प्राणी में प्रकाशित हो रहा है।

अत एव च सर्वेऽपि प्राणिनो गौरवास्पदम्।
न कश्चिदवमन्तव्य आत्मश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणा॥३॥

इसीलिए सभी प्राणी हमारे गौरव के पात्र हैं। जो अपना कल्याण चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह किसी भी प्राणी का अपमान न करे, अर्थात् किसी को तुच्छ न समझे।

---

१ तु० "ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्" (अथर्व० १०।७।१७)। अर्थात्, ब्रह्म को वे ही जानते हैं जो मनुष्य में ब्रह्म को देखते हैं।

: ८६ :

अमृतस्य कला दिव्या[1]

अमृत की दिव्य कला

"यश्चायमस्मिन् मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम्।"
(बृहदरण्यकोपनिषद् २।५।१३)

अर्थात्, यह जो इस मनुष्य-भाव में तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष है वह यही है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब कुछ है।

अमृतस्य कला दिव्या सर्वस्यान्तर्विराजते।
प्रत्यक्षापि बुधानां सा पामराणां न गोचरा ॥१॥

अमृत की दिव्य कला सबके अन्दर विराजती है। ज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, पर अज्ञानी उसको नहीं देख पाते।

तयैव सुखकृत्सर्वं शान्तिदायि प्रतीयते।
तयैव दुःखमध्येऽपि सुखं पश्यति मानवः ॥२॥

संसार में पदार्थों से मनुष्य को जो सुख और शान्ति प्राप्त होते हैं उसका कारण वही अमृत-कला है। उसी के कारण दुःखों के बीच में भी मनुष्य सुख को देख सकता है।

इसका स्पष्टीकरण अगले तीन पद्यों में किया गया है—

नानासंतापसंतप्ताः कोटिं कष्टस्य वा गताः।
वियुक्ता धनधान्याद्यैर्बन्धुबान्धववर्जिताः ॥३॥
इन्द्रियेणेन्द्रियैर्वापि विकलाश्च, निराकृताः।
आशावन्तस्तथापीह दृश्यन्ते मानवास्तया ॥४॥

नाना संतापों से संतप्त, घोर कष्टों को प्राप्त, धन-धान्य आदि से वियुक्त, बन्धु-बान्धवों से रहित, एक या अनेक चक्षुरादि इन्द्रियों से हीन अथवा विकृत, तथा अनादर को प्राप्त मनुष्य भी इस संसार में उसी अमृत-कला के कारण आशा से युक्त दिखायी देते ह।

---

१ तु० "अमृतस्य पूर्णां तामु कलां विचक्षते" (तैत्तिरीय आरण्यक ३।११।५)।

दुःखिनोऽप्यानने येयं रेखा हासस्य दृश्यते।
कदाचित्, कारणं तस्याः सैवामृतकला मता ॥५॥

दुःखों में ग्रस्त मनुष्य के मुख पर भी जो हास की रेखा कभी-कभी दीख पड़ती है, उसका कारण भी वही अमृत-कला मानी गयी है।

राज्यादिसंपदं त्यक्त्वा प्रसन्नाः कष्टसन्ततीः।
स्वीकुर्वन्ति महात्मानो हेतुस्तत्रापि सा कला ॥६॥

महात्मा लोग राज्यादि की संपत्ति को छोड़कर प्रसन्नता-पूर्वक कष्ट-सन्ततिओं को जो स्वीकार करते हैं, इसका हेतु भी वही अमृत-कला है।

यशसाक्रान्तलोकानां शूराणां शौर्यकर्मसु।
गम्भीरशान्तमूर्त्तौ वा लोकोत्तरमहात्मनाम् ॥७॥
निर्दोषभावरम्येषु बालानामाननेषु वा।
मातुर्वात्सल्यभावे वा स्नेहार्द्रेऽपत्यवर्धने ॥८॥
पत्न्या अकृत्रिमे पुण्ये प्रेम्णि भर्तृकृतेऽथवा।
विबुधा द्रष्टुमर्हन्ति साक्षात्तामममृतां कलाम् ॥९॥

मनीषी लोग यश से लोकों को आक्रान्त करने वाले शूर-वीरों के वीरता के कामों में, अथवा लोकोत्तर महात्माओं की गम्भीर और शान्त मूर्त्तियों में, अथवा निर्दोष भावों से रमणीय बालकों के मुखों पर, अथवा स्नेह से आर्द्र तथा सन्तान के वर्धन में हेतुभूत माता के वात्सल्य-भाव में, अथवा अपने पति के प्रति पत्नी के स्वाभाविक पवित्र प्रेम में, उस अमृत-कला को साक्षात् देख सकते हैं।

सा मेऽमृतकला शुभ्रा, साहं, सा वस्तुतोऽनघा।
चराचरस्य लोकस्य प्रकाशं तनुते सदा ॥१०॥

वह मेरी अमृत-कला सब प्रकार की मलिनता से रहित और स्वच्छ है। वह मैं ही हूँ। वह वास्तव में पापों से रहित है, और इस चराचर जगत् को सदा प्रकाशित करती है।

सुखदुःखे तिरस्कृत्य सदानन्दमयस्थितौ।
संस्थिता, ज्योतिषां ज्योतिः, सर्वकामदुघा स्मृता ॥११॥

सुख-दुःखों को हटाकर सर्वदा आनन्दमय स्थिति में संस्थित और सूर्य आदि ज्योतियों की भी ज्योति-रूप वह अमृत-कला मनुष्य की समस्त सत्कामनाओं को पूर्ण करने वाली कही गयी है।

अमृतस्राविणी सा मे, सततं मार्गदर्शिनी।
भूयाद्, भयेन निर्मुक्ते पदे संस्थापयेच्च माम् १२॥
सैषा स्थितिः सदा मे स्याज्जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
समाधिसंस्थितस्याथ कार्यव्यग्रस्य वा सतः ॥१३॥

वह अमृत-कला मेरे ऊपर अमृत का स्रवण करने वाली और साथ ही सदा सन्मार्ग को दिखानेवाली हो, और मुझे भय से रहित स्थिति में संस्थापित करे।

जागते हुए अथवा सोते हुए, समाधि में स्थित होने पर अथवा सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी मेरी सर्वदा यही मानसिक स्थिति रहे।

तदेवं निर्भयः शान्त आत्मन्येवात्मना स्थितः।
योगेनान्ते तनुं त्यक्त्वा ब्रह्मनिर्वाणमाप्नुयाम् ॥१४॥
एषाशीराशिषां श्रेष्ठा मम जीवनसंगिनी।
वर्ततेऽप्यनुवर्तेत सर्वदेति मदीप्सितम् ॥१५॥

सो इस प्रकार निर्भय, शान्त, तथा केवल आत्म-भाव में स्थित होकर, जीवन के अन्त में योग-द्वारा शरीर को छोड़कर, मैं ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करूँ!

जीवन की आकांक्षाओं में यह सर्वोत्कृष्ट आकांक्षा मेरे जीवन की अब तक संगिनी रही है; आगे भी यह सदा मेरे साथ रहे, यही मैं चाहता हूँ।

: ८७ :

मत्वा धीरो न शोचति

"मत्वा धीरो न शोचति" (कठोपनिषद् २।१।४)

अर्थात्, आत्मा को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

निधानं सर्वशक्तीनां तेजोरूपं सनातनम्।
अनन्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥१॥

समस्त शक्तियों के आश्रय, तेजःस्वरूप, शाश्वत, अनन्त और व्यापक आत्मा को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को पा लेता है।

बहिरन्तश्च यत्तत्त्वं जगत्संव्याप्य संस्थितम्।
तदभिन्नतयात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२॥

जो मूलतत्त्व जगत् को बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त किये हुए है उसके साथ अभिन्न रूप से अपने को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को पा लेता है।

: ८८ :

हृदयाधिष्ठितं तत्त्वम्

परतत्त्व की उपासना

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।"
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१३)

अर्थात्, अङ्गुष्ठमात्र सा प्रतीयमान अन्तरात्मा पुरुष मनुष्यों के हृदयों में सदा सन्निविष्ट रहता है।

चराचरस्य लोकस्य साक्षिभूतं निरञ्जनम्।
अनन्तमनवच्छिन्नं दिक्कालाद्यैः स्वयंभुवम् ॥१॥
हृदयाधिष्ठितं तत्त्वं विरजं निष्कलं महत्।
उपास्महेऽनिशं भक्त्यानन्दस्रोतस्यवस्थिताः ॥२॥

आनन्द-स्रोत के समीप में बैठे हुए हम भक्ति-पुरस्सर निरन्तर हृदय में अधिष्ठित उस महान् आत्म-तत्त्व की उपासना करते हैं, जो समस्त चराचर जगत् का साक्षी है, जो पाप से रहित है, जो अनन्त, दिशा काल आदि से अखण्डित और स्वयंभू है, तथा जो निर्मल और निष्कल है।

: ८६ :

भावनाकुसुमैरीडे

भावना-यज्ञ

भावनाकुसुमैरीडे तत्तेजः शाश्वतं महत्।
आत्मा सवितृरूपेण जगतस्तस्थुषश्च यत् ॥१॥

मैं भावना-रूपी पुष्पों से उस महान् शाश्वत प्रकाश की पूजा करता हूँ जो सविता (आदित्य अथवा सर्वप्रेरक शक्ति) के रूप में समस्त जड़ और चेतन जगत् की आत्मा है।

व्याख्या

उपर्युक्त पद्य के तीन अंश हैं। प्रथम, भावनारूपी पुष्पों से भगवान् की पूजा; द्वितीय, उपास्यदेव के स्वरूप का चिंतन; तृतीय, उपास्यदेव की महिमा।

शास्त्रों में भगवान् की पूजा के अनक प्रकार लिखे हैं। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के साथ साथ उसकी पूजा के प्रकार में भी विकास होता है। सब से निचली श्रेणि की पूजा वह है जिसमें मनुष्य अपने धनादि के आधार पर, रुपये-पैसे के सहारे, या ऐसे बाह्य पदार्थों द्वारा जो रुपये-पैसे से ख़रीदे जा सकते हैं, भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है। बड़े बड़े यज्ञ, जिनको केवल धनवान् लोग ही कर सकते हैं, इसी प्रकार की पूजा के अंग हैं। गीता में इन्हीं यज्ञों को 'द्रव्य-यज्ञ' कहा है।

इसी तरह सब से ऊँची श्रेणि की पूजा वह है जिसमें बाह्य आडम्बर का सहारा छोड़ कर अपनी शुद्ध भावना को ही मानों पुष्पों के सदृश मान कर सर्व-भाव से भगवान् का चिन्तन, पूजन और भजन किया जाता है। भगवद्गीता में जिस सात्त्विक भगवद्-भक्ति का वर्णन है उसका ही दूसरा नाम 'भावना-यज्ञ' है। जब तक मनुष्य भावना-यज्ञ का अनुगामी नहीं बन जाता है वह मानो ईश्वर से बहुत दूर ही रहता है।

इस भावना-यज्ञ को करने के लिए रुपये-पैसे की आवश्यकता नहीं है। ग़रीब से ग़रीब इसको कर सकता है। वास्तव में मनुष्य ग़रीब बन कर ही, विनीत भाव से ही, ईश्वर के समीप पहुँच सकता है। इस यज्ञ की सब से बड़ी आवश्यकता हृदय की वास्तविक पवित्रता और लगन है।

ईश्वर का रूप तो कोई हो ही नहीं सकता, फिर भी महात्माओं ने उसका प्रकाश या तेजस् के रूप में ही वर्णन प्रायः किया है। जैसे प्रकाश समस्त अंधकार को नष्ट कर देता है और सब प्रकार की अपवित्रता को भस्म कर देता है, इसी प्रकार ईश्वर की उपासना, चिन्तन, भजन से मनुष्य के मन के दुर्गुणों के नष्ट होने के साथ साथ उसका अज्ञान भी दूर हो जाता है।

भगवान् के स्वरूप की महिमा अनन्त है। जगत् का सारा सौन्दर्य ईश्वर की महिमा के गीत गा रहा है। विश्व के बड़े से बड़े पदार्थ, सूर्य, चन्द्र, महान् आकाश, नक्षत्र-गण, सब ईश्वर की ही विभूति को बतलाते हैं।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने चारों तरफ़ विश्व-प्रपञ्च की व्यापक क्रियाओं में, अपने जीवन की गम्भीर समस्याओं में, अपने जीवन और मरण के गूढ़ रहस्यों में परमात्मा की असीम विभूति को अनुभव करने का प्रयत्न करे और विश्व-प्रपञ्च को चलाने वाली मातृरूपिणी उस महाशक्ति की मानो गोद में बैठा हुआ प्रेममय, आश्चर्यमय होता हुआ भावना-यज्ञ द्वारा उसकी आराधना कर के अपने जीवन को कृत-कृत्य करे।

: ९० :

स एष मानसो यज्ञः

मानस यज्ञ

मानस यज्ञ का बड़ा हृदयग्राही वर्णन नीचे के पद्यों में दिया जाता है--

श्रद्धावेदिमुपाश्रित्य प्रत्यहं नियतात्मना।
ओंकारधुक्षणेनैव प्रज्ञानाग्निः समिध्यताम् ॥१॥

श्रद्धारूपी वेदि का आश्रय लेकर प्रतिदिन संयतात्मा मनुष्य को ओंकार के धुक्षण (= धौंकना) से प्रज्ञान की अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए।

समिद्धेऽग्नौ ततो मन्त्रैः शब्दातीतैर्मनोमयैः।
पापौघो भस्मतां नेयो योगयुक्तेन चेतसा ॥२॥

प्रज्ञानरूपी अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर योगयुक्त चित्त से शब्दरहित, केवल मनोमय (अर्थात् विचाररूपी) मन्त्रों द्वारा (समिधाओं आदि के स्थानीय) पापों के समूह को भस्म करना चाहिए।

तस्याग्नेर्दर्पणेनैव रूपं तद् यत्परात्मनः।
दर्शं दर्शं सदानन्दस्रोतसि स्नानमाचरेत् ॥३॥

साथ ही उस प्रज्ञान-रूपी अग्नि को दर्पण बनाकर उसमें अन्तरात्मा (या परमात्मा) के रूप को बार-बार देखकर सदा बहने वाला जो आनन्द का स्रोत है उसमें स्नान करे (अर्थात् मग्न हो जावे)।

वस्तुतोऽवभृथस्नानमेतदाहुर्मनीषिणः।
स एष मानसो यज्ञश्रेष्ठोऽनन्तफलः स्मृतः ॥४॥

मनीषी इसी स्नान को वास्तविक अवभृथस्नान (= यज्ञान्त-स्नान) कहते हैं। सो यह मानस यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ औरअनन्त फल को देने वाला कहा गया है।

व्याख्या

इस प्रकरण में प्रसिद्ध याज्ञिक प्रक्रिया के आश्रय से मानस यज्ञ (अथवा भावनायज्ञ) के स्वरूप और महत्त्व को समझाने का यत्न किया गया है।

मानस यज्ञ में श्रद्धा की वेदि पर ओंकार के धुक्षण से प्रज्ञान की अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है।

प्रज्ञानाग्नि में भावनामय मन्त्रों से एकाग्र-चित्त साधक अपने पापों की आहुति देकर उनको भस्मसात् करता है।

साथ ही, प्रज्ञानाग्नि से वह दर्पण का काम भी इस अर्थ में लेता है कि उसमें अन्तरात्मा के स्वरूप को बराबर देखता है और इससे जो आनन्द-स्रोत बहता है उसमें मग्न होकर मानो स्नान भी करता है।

इससे याज्ञिक अग्नि की अपेक्षा प्रज्ञानाग्नि की विशेषता स्पष्ट है।

यज्ञान्त में स्नान की विधि है। मानस-यज्ञ में भी आनन्द-स्रोत में स्नान ऊपर बतलाया है।

दूसरे यज्ञों का फल सान्त होता है। परन्तु मानस यज्ञ का फल अनन्त होता है, जिसको अमृतत्व कहते हैं। इसीलिए मानस यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहा गया है।

: ६१ :

ओंकार-माहात्म्यम्

ओंकार की महिमा

वेदादि-शास्त्रों में ओंकार के अद्‌भुत माहात्म्य का वर्णन किया गया है। उस माहात्म्य को अतिशयोक्ति न समझना चाहिये। उसका आधार, निश्चय ही, ऋषि-मुनियों का अपना अनुभव था। उस माहात्म्य को पढ़कर यही मानना पड़ेगा कि एक सच्चे श्रद्धालु के लिये ओंकार ऐसा चिन्तामणि है जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है—"एतद् ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" (कठोपनिषद् १।२।१६), अर्थात्, ओंकार को जानकर कोई भी जिस पदार्थ को चाहता है उसको पा सकता है।

छान्दोग्य-उपनिषद्, माण्डूक्य-उपनिषद्, कठ-उपनिषद्, श्वेताश्वतर-उपनिषद्, भगवद्‌गीता, मनुस्मृति आदि में अनेकानेक स्थलों में ओंकार का वर्णन है। उससे स्पष्ट है कि ओंकार ब्रह्म-प्राप्ति का एक अद्वितीय साधन है।

पातञ्जल-योगसूत्रों में कहा है कि परमेश्वर का मुख्य वाचक शब्द ओंकार ही है और ओंकार के जप और अर्थ के चिन्तन से अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाला सरलता से एकाग्रता तथा अन्तर्-मुखता को प्राप्त कर सकता है और उसके मार्ग में आने वाले सब प्रकार के विघ्न स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

इसी ओंकार का एक आकर्षक, साथ ही वास्तविक वर्णन, माहात्म्य के रूप में, हम नीचे देते हैं। निश्चय ही, जिज्ञासु लोगों को वह अत्यन्त प्रिय लगेगा। साथ ही हम आशा करते हैं कि पाठक इसको, कविता के रूप में नहीं, किन्तु आध्यात्मिक भावना के रूप में ही पढ़ेंगे और प्रत्येक विचार-धारा को अपने मन में सजीव देखने का यत्न करेंगे।

(१)

(ओंकार का दोला या झूले के संगीत के रूप में वर्णन)

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियामकम्।
यत्, तेन निर्मितामेतां तेनैवान्दोलितां तथा ॥१॥
श्वासप्रश्वासयोर्दोलामारूढो मोदनिर्भरम्।
गायाम्योंकारसंगीतं मधुरं मधुराक्षरम् ॥२॥

अर्थात्, प्रेम और कारुण्य के स्थान तथा सारे विश्व के नियन्ता भगवान् ने श्वास और प्रश्वास की दो डोरियों वाली एक दोला(झूला) मेरे लिये बनायी है और स्वयं ही उस दोला को आन्दोलित कर रहे हैं! उन्हीं के द्वारा मैं उस दोला में बैठा हुआ आनन्द-विभोर होकर मीठे स्वर में मधुराक्षर ओंकार-रूपी संगीत को गा रहा हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे कोई बालक अपने पिता द्वारा झूले में बिठाया और झुलाया जाकर आनन्द में मग्न होकर गीत गाता है।

(२)

(माता को बुलाने के लिये बच्चे के आह्वान के रूप में वर्णन)

यासौ सर्वजगन्माता सर्वदेवनमस्कृता।
ऋषिभिर्मुनिभिर्गीता सर्वशास्त्रोपवर्णिता ॥३॥
नानासंतापसंत्रस्तस् तस्या आह्वानमुत्तमम्।
ओंकारमाश्रये नित्यं भक्तिप्रवणमानसः ॥४॥

अर्थात् समस्त देवताओं से नमस्कृत, ऋषियों और मुनियों से गायी गयी, तथा सब शास्त्रों से वर्णन की हुई जो सारे जगत् की माता है, ओंकार उसके आह्वान का, अपनी ओर आकृष्ट करने का, उत्कृष्ट साधन है। अनेकानेक सन्तापों से त्रस्त होकर मैं भक्ति-प्रवण होता हुआ सर्वदा उसी ओंकार का आश्रय लेता हूँ।

अभिप्राय यह है कि डरे हुए बच्चे की तरह मैं भी नाना सन्तापों से डरा हुआ ओंकार द्वारा ही विश्व की माता को बुलाना चाहता हूँ। उनके बुलाने के लिए यही सर्वोत्तम आह्वान है।

(३)

(भगवत्पद की प्राप्ति के लिये सोपान के रूप में वर्णन)

योगिनामपि दुर्गम्यं भक्तानामपि दुर्लभम्।
ज्ञानिनामपि दुश्चिन्त्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ॥५॥
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं विष्णोर्यत् परमं पदम्।
ओमित्युद्गीथिनः प्राहुस्तस्य सोपानमद्भुतम् ॥६॥

अर्थात् ओम् का गान करने वाले आचार्यों का कहना है कि ओंकार ही उस कूटस्थ शाश्वत और दिव्य भगवत्पद की प्राप्ति के लिए एक अद्भुत सीढ़ी है, जो योगियों के लिए भी दुर्गम्य है, भक्तों के लिए भी दुर्लभ है, ज्ञानियों के लिए भी दुश्चिन्त्य है और जहाँ से जगत् की उत्पत्ति होती है और जिसमें प्रलय होता है।

(४)

(आत्मरक्षार्थ कवच के रूप में वर्णन)

आन्तराणामरातीनां विजयव्रतधारिणाम् ।
भवबन्धविनाशार्थं मुनीनां धर्मचारिणाम् ॥७॥
ओंकारं परमं प्राहुराश्रयं तद्विदो बुधाः ।
तमेनं सुदृढं मन्ये "ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" ॥८॥

अर्थात्, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि आभ्यन्तर शत्रुओं को विजय करने का व्रत लेने वाले, और भव-बन्ध अर्थात् सांसारिक जीवन की त्रुटियों और अपूर्णताओं की निवृत्ति के लिए धर्माचरण में रत मुनियों का ओंकार ही एकमात्र उत्कृष्ट सहारा होता है, ओंकार के तत्त्व को जानने वालों का ऐसा मत है। उसी ओंकार को मैं ब्रह्म-रूप में अपना सुदृढ़ आध्यात्मिक कवच समझता हूँ।

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" यह अथर्ववेद (१।१९।४) का मन्त्र है। उसी की ओंकार-परक व्याख्या यहाँ की गयी है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर-भक्त के लिये ओंकार ही एक सुदृढ कवच का काम करता है।

(५–९)

(सुगन्धित पुष्प, परम ज्योतिः, अमृत, परमौषध तथा ब्रह्मास्त्र के रूप में वर्णन)

ज्ञानविज्ञानवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम् ।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरात्मनो भोज्यममृतम् ॥९॥
नानासन्तापतप्तानां यच्चाप्यौषधमुत्तमम् ।
पापौघं भस्मसात् कर्तुं ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मवादिनाम् ॥१०॥

अर्थात्, ओंकार ज्ञानविज्ञान-रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात्, जैसे किसी फूलने वाले पौदे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय सारांश पुष्प-रूप में विकसित होता है, इसी तरह समस्त ज्ञान और विज्ञान का अन्तिम निचोड़ या परम ध्येय या पर्यवसान ओंकार है।

ओंकार समस्त प्रकाशमय पदार्थों का भी प्रकाश है।

ओंकार ही वास्तव में आत्मा का अमृतमय भोज्य है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यमात्र में अपने को पूर्ण की ओर ले जाने की जो भूख है उसकी सदा के लिए तृप्ति ओम् से ही हो सकती है।

नानाविध सन्तापों से संतप्त प्राणियों के लिए ओंकार ही सर्वोत्तम अचूक औषध है।

मनुष्य के अन्दर जो पापों की राशि घर किये हुए है उसको आमूल भस्मसात् करने के लिए ओंकार को ही ब्रह्मज्ञानी लोग अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र समझते हैं।

(१०)

(सर्व-देवात्मक, सर्वत्र व्यापक मूल-तत्त्व के रूप में वर्णन)

सर्वदेवात्मकं शान्तं तत्त्वमेकरसायनम् ।
अथवा बहुनोक्तेन कोऽर्थ, एवं विचिन्त्यताम् ॥११॥
त्रिलोक्यामपि यत्किञ्चित् तदादाय समन्ततः ।
तिष्ठन्तं प्रणवं ध्यायन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१२॥

अर्थात्, समस्त देव जिसके अंग हैं ऐसा, सदा एक स्वरूप में रहने वाला (अथवा अद्वितीय रसायन-भूत), शान्त तत्त्व ओंकार ही है।

अथवा अधिक कहने से क्या लाभ है; यही समझना चाहिए कि तीनों लोकों में जो कुछ भी विद्यमान है उस सब को अपने में लेकर जो स्थित है, उसी ओंकार का ध्यान करता हुआ मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त कर सकता है।

(उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य के माहात्म्य का वर्णन)

एतदोंकारमाहात्म्यं प्रातः प्रातः पठन्नरः ।
सावधानेन मनसा शान्त एकान्तसंस्थितः ॥१३॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रव्रजन् ब्रह्मणोऽध्वनि ।
प्रणवस्य जपेनार्थभावनेन च नित्यशः ॥१४॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं स्थानं प्राप्य, परं पदम् ।
अक्षय्यममृतं दिव्यं लब्ध्वा तिष्ठत्यनामयम् ॥१५॥

अर्थात्, उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य का एकान्त में बैठकर प्रत्येक दिन प्रातः-काल शान्तचित्त और सावधान होकर जो मनुष्य पाठ करता है वह गुरु द्वारा बतलाये हुए मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति की ओर चलता हुआ नित्य अर्थविचार के साथ ओंकार के जप से क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ निश्चय ही अन्त में अक्षय्य, अमृत, अनामय (सब पीड़ाओं से रहित) आनन्दमय परमपद को प्राप्त कर लेता है।

(उपसंहार)

स एष सरलो मार्गः सर्वकण्टकवर्जितः।
अत एव सदा सद्भिः सम्प्रदायैः समर्हितः॥१६॥

अर्थात्, ओंकार-उपासना का उपरि-निर्दिष्ट मार्ग सीधा-सादा है। इसमें किसी प्रकार के कण्टकों या विघ्न-बाधाओं या जटिलताओं का डर नहीं है। इसी लिए समस्त सत् सम्प्रदाय इस मार्ग का आदर करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक मार्ग की तरह जैन बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी ओंकार के माहात्म्य को मानते हैं।

: ९२ :

भद्राः सन्तु प्रशस्तयः

उपसंहार

भद्रा भवतु नो वाणी तेभ्यो ये तामधीयते ।
भद्रा उत प्रशस्तयो जागृयाम पुरोहिताः ॥१॥

हमारी वाणी पढ़ने वालों के लिए कल्याणकारिणी हो! इस ग्रन्थ में ी हुई विभिन्न विषयों की प्रशस्तियाँ (= वर्णन) हृदयंगम और कल्याण करने वाली हों ! राष्ट्र-निर्माण में मार्गप्रदर्शन करने वाले हम लोग अपने कर्तव्य-पालन में सावधान और तत्पर हों !

भद्राः सन्तु प्रशस्तयो भद्रा वाचो वचोविदः ।
जागृयाम पुरोहिताः ॥२॥

ग्रन्थकार की प्रशस्तियाँ सुन्दर और सुखद सिद्ध हों। शब्दावली भी सब के हित-साधन में समर्थ हो। जनता का मार्ग-प्रदर्शन करने वाले हम ग्रन्थकार लोग अपने कर्तव्य-पालन में सजग रहें!

तमसस्परि पश्यन्तो नित्यं स्वर्वयमुत्तरम् ।
अश्नुवीमहि तज्ज्योतिरुत्तमं यदनाम्म् ॥३॥

॥ इति श्री मङ्गलदेव शास्त्रिणोद्भासितायां रश्मिमालायाम्
अमृतस्य कला नाम नवमो रश्मिः ॥

॥ इति रश्मिमालायां स्वः पटलं नाम तृतीयो भागः ॥

हम लोग बराबर उत्कृष्टतर प्रकाश को आदर्शरूप में देखते हुए अपनी अज्ञानान्धकार की वर्तमान अवस्था से क्रमशः उस उत्तम प्रकाश को प्राप्त हों जो सब प्रकार की पीड़ाओं से रहित है!!!